श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला पुष्प नं० ७



श्री राजचन्द्रजी कृत

अपूर्व अवसर

महानकाव्य पर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचन

तथा

भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत

द्वादशानुप्रेक्षा, सामायिक पाठ, समाधिमरण-पाठ आदि

: अनुवादक :

बंसीधरजी शास्त्री M.A. (कलकत्ता)



: प्रकाशक :

श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला

मीठालाल महेन्द्रकुमार सेठी दि० जैन पारमार्थिक ट्रस्ट

६२-धनजी स्ट्रीट, बम्बई नं० ३

: प्राप्तिस्थान :
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)



तीसरी आवृत्ति	मूल्य	वीर सं० २४९४
११०० प्रतियाँ	१-५०	वि० सं० २०२३



इस पुस्तकमें २०×३०=३० पौंड वेस्ट कोस्ट
मेपलिथो कागज १३॥ रीम लगा है।



: मुद्रक :
मगनलाल जैन
अजित मुद्रणालय
सोनगढ (सौराष्ट्र)



अर्पण

परम कृपालु पूज्य

आत्मार्थी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के

पुनीत कर कमल में

जिनके उत्कृष्ट अमृतमय उपदेशको प्राप्त कर इस पामर ने अपने अज्ञान-अंधकारको दूर करनेका यथार्थ मार्ग प्राप्त किया है ऐसे महान महान उपकारी सत्‌धर्म-प्रवर्तक पूज्य श्री कानजी स्वामीके कर कमलमें अत्यंत आदर एवं भक्तिपूर्वक यह पुस्तक अर्पण करता हूँ और भावना करता हूँ कि आपके बताये मार्ग पर निश्चलरूपसे चलकर निःश्रेयस दशाको प्राप्त करूँ।

विनम्र सेवक—
मीठालाल सेठी



—: सेठी ग्रन्थमाला के प्रकाशन :—



१ नियमसारजी शास्त्र ४—००

२ पंचास्तिकाय शास्त्र ३—५०

३ छहढाला दूसरी आवृत्ति १—००

४ जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला प्रथम भाग चतुर्थावृत्ति ०—७५

५ जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला द्वितीय भाग चतुर्थावृत्ति ०—७५

६ जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला तृतीय भाग चतुर्थावृत्ति ०—६२

७ अपूर्व अवसर दूसरी आवृत्ति १—५०

८ आत्मप्रसिद्धि (समयसारजी शास्त्रमेंसे ४७ शक्तियों पर पू० कानजी स्वामीके विस्तृत प्रवचन) पृ० सं० ५०० ४—००

९ अष्टपाहुड (भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत पं० जयचंदजीकृत देशभाषावचनिका, आधुनिक हिन्दी) प्रेसमें

१० चिद्विलास (श्री दीपचंदजी साधर्मी कृत) १—५०



गुजराती संस्करण की

प्रस्तावना

सुप्रसिद्ध जैन-तत्त्ववेत्ता परमपूज्य समयज्ञ श्रीमद् रायचन्द्रजीने सं० १९५२के मगसिर माहमें अपनी जन्मभूमि ववाणियामें 'अपूर्व अवसर' नामक काव्यकी रचना की थी। वे वीतरागके महान उपासक और आत्मज्ञानी थे। उनको बाल्यावस्थामें ही जातिस्मरण ज्ञान हुआ था। उनकी निवृत्ति की तीव्र अभिलाषा थी, निवृत्तिकी भावना इस काव्यमें बहुत सुन्दर और प्रभावक रीतिसे व्यक्त की गई है।

यह काव्य जैन समाज व अन्य धर्मानुयायियोंमें भी बहुत प्रसिद्ध है, प्रिय है और अनेक स्थानों पर प्रार्थना रूपमें पढ़ा जाता है।

श्रीमद्‌ने यह भावना अपने निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होनेके बाद भायी थी, इससे ऐसा समझना चाहिये कि धर्मका प्रारम्भ निश्चयसम्यग्दर्शन होने पर ही होता है। निश्चयसम्यग्दर्शनपूर्वक ही सच्चा चारित्र हो सकता है यह सिद्धांत इस काव्यमें स्पष्ट रूपमें प्रतिपादन किया है।

श्रीमद्‌ने सर्वज्ञ वीतराग कथित द्रव्य और भाव साधकत्व प्रकट कर केवलज्ञान प्राप्तिकी तीव्र पुरुषार्थकी भावना की है और उस दशाको शीघ्र प्रकट करनेके लिये वे अत्यन्त उत्सुक थे, यह इस काव्यसे ज्ञात होता है। इस काव्यकी नवमी गाथामें द्रव्यलिंगी और भावलिंगी साधुके स्वरूपका वर्णन सुन्दर रीतिसे किया गया है तथा उपसर्गके आनेपर ज्ञानीकी कैसी दशा होती है यह भी इसमें बताया है।

इस काव्यमें गंभीर तत्त्वका रहस्य सन्निहित किया गया है। विक्रम सं० १९९५में राजकोटके चातुर्मासमें परम पूज्य श्री कानजी स्वामीने महान उपकार किया। इस काव्य पर उन्होंने प्रवचन किये। उन प्रवचनोंमें इस काव्यका गूढ रहस्य अति सरल सुन्दर और स्पष्ट भाषामें प्रकट किया है। इससे मुमुक्षुओंको बहुत लाभ हुआ। बहनें, युवा और वृद्ध सब किसीके समझने योग्य इन प्रवचनोंसे सब कोई लाभ लें ऐसा मेरा अनुरोध है।

श्री बंशीधरजी शास्त्री M.A. (कलकत्ता)ने इस पुस्तकका अनुवाद खास प्रेमपूर्वक भेंट दिया है, आपको इस साहित्यका इतना प्रेम है कि आपने वीरवाणीमें इसका १२ पद्य तकका प्रवचन छपवाया है और पुस्तकरूपमें छप जाय, अच्छा प्रचार हो ऐसी प्रेरणा की है, आपका आभार मानता हूँ।

इस पुस्तककी गुजरातीमें दूसरी आवृत्ति समाप्त होने पर अनेक मुमुक्षुओंकी मांग पर तीसरी आवृत्ति प्रकाशित की गई है। उसमें ब्र० गुलाबचन्दभाईने योग्य शुद्धि की है। फिर भी कोई भूल हो तो पाठक सुधार लें। अन्तमें इस पुस्तकको शांत चित्तसे पढ़नेकी जिज्ञासुओंसे प्रार्थना करते हुए मैं लेखनीको विराम देता हूँ।

वीर सं० २४८७
वि० सं० २०१७
दशलक्षणी पर्व

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख-श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)



कुछ शब्द

परमपद प्राप्तिकी भावनारूप 'अपूर्व अवसर' नामक पद श्रीमद् राजचंद्रजीकी महत्त्वपूर्ण कृतियोंमें से है। इस पदमें साधकस्वभाव और गुणश्रेणीके क्रमारोहणका अनोखा वर्णन किया गया है। ऐसी भावना प्रत्येक भव्य जीव पूर्ण पदकी प्राप्ति न होने तक किया करता है। अतः यह पद प्रेरणासे परिपूर्ण है।

इस महत्त्वपूर्ण पद पर १७ वर्ष पूर्व श्रद्धेय श्री कानजी स्वामीने व्याख्यात्मक प्रवचन किए हैं। इन प्रवचनोंमें पदका मर्म इतना स्पष्ट कर दिया है कि साधारण व्यक्तिके लिए भी वह सुबोध हो गया है।

इन प्रवचनोंमें मुनिधर्मका महत्त्व एवं स्वरूपका भी यथावसर विचार किया गया है। इन प्रवचनोंसे यह ज्ञात हो जाता है कि स्वामीजी वीतरागी मुनियोंके प्रति अगाध-भक्ति रखते हैं। (वे मुनियोंकी शिथिलाचारी वृत्तिके विरोधी हैं। निम्न उद्धरणोंसे इस मन्तव्यकी पुष्टि होगी।)

१. मुनित्व सर्वोत्कृष्ट साधक-दशा है।

२. मुनि-अवस्थामें मात्र देहके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रहता। देह होने पर भी देहके प्रति ममत्व नहीं है।

३. देहको उपचारसे संयमका उपकरण कहा है किंतु वह इन्द्रिय या विषय-कषायके पोषणके लिए नहीं होती लेकिन संयमके लिए होती है।

४. पूजा-सत्कारके लिए या देहको सुन्दर दिखानेके लिए या अन्य किसी कारणवश भी मुनि-अवस्थामें वस्त्रादिका ग्रहण नहीं होता ।

५. जिनकल्पी या स्थविरकल्पी किसी भी जैनमुनिके वस्त्र नहीं होता ।

६. मुनि-दशामें अंशमात्र भी देहमें आसक्ति या ममता नहीं होती ।

७. मुनिकी साधक-दशामें २८ मूलगुण अवश्यमेव निमित्त होते हैं ।

८. मुनिके छठ्ठे गुणस्थानमें आहार लेनेका विकल्प होता है वहाँ आहार लेनेकी वृत्ति अवश्य है किंतु मूर्च्छा या लोलुपता नहीं है ।

९. गृहस्थावासमें कषायका सर्वथा त्याग नहीं हो सकता इसलिए सच्चा मुनित्व होना चाहिए और वह नग्न वस्त्र-रहितके ही होता है ।

१०. वह अपूर्व अवसर धन्य है जब देह मात्र संयमके लिए ही हो, नग्न रहे किंतु वस्त्र नहीं हो, द्रव्य और भाव दोनोंसे नग्न-निर्ग्रंथ हो।

११. जैन धर्मानुसार तीनों कालमें नग्न दिगम्बर निर्ग्रंथ दशा-युक्त साधक-अवस्थारूप मुनिमार्ग ही केवलज्ञान प्रकट करनेका प्रयोग है ।

स्वामीजीके समयसारादि आध्यात्मिक ग्रंथोंके प्रवचनोंका हिन्दी भाषामें अनुवाद प्रकाशित होता रहा है इससे साधारण हिन्दी भाषा-भाषी व्यक्ति यह धारणा कर लेता

है कि स्वामीजी केवल अध्यात्मकी बात करते हैं एवं व्यवहारकी उपेक्षा करते हैं किन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि उन्होंने अनेक भक्तिकाव्य, श्रावकाचार, भक्तामरादि स्तोत्र पर भी प्रवचन किये हैं। (इस धारणाको मजबूत करते हैं वे लोग जो जानबूझकर स्वामीजीके व्यवहारधर्म पर हुए प्रवचनों एवं उनकी व्यवहारमूलक वृत्तियोंको प्रकाशमें नहीं आने देते।)

मैं समझता हूँ कि यदि श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर सोनगढ़ एवं अन्य मुमुक्षुमंडल स्वामीजीके व्यवहारधर्म पोषक प्रवचनोंको प्रकाशमें लाएं तो अनेक व्यक्तियोंकी अपूर्ण जानकारी पर आधारित भ्रांत धारणाओंका निरसन हो जावेगा।

मैंने इन प्रवचनोंका हिन्दी अनुवाद इसी भावनासे किया था कि हिन्दी भाषा-भाषियोंको स्वामीजीकी मुनिधर्मके प्रति श्रद्धाकी झलक मिले एवं मुनिधर्मका स्वरूप ज्ञात हो। (जिसमें शिथिलाचारका स्थान नहीं है।)

इसके द्वितीय संस्करणमें समाधिमरण एवं बारह-भावनाओंकी कुछ उपयोगी सामग्री और सम्मिलित की गई है। आशा है पाठक-गण श्रीमद् राजचंद्र एवं स्वामीजीकी भावनाका उपयोग अपने कल्याणके लिए करेंगे। अपूर्व अवसर नामक काव्य पर श्री कानजी स्वामीजीने जो प्रवचन किये हैं उन्हींको सावधानी पूर्वक ब्र० गुलाबचन्दजीने लिखकर प्रेस-मैटर तैयार किया था। गुजरातीमें कईबार छप चुका है, हिन्दीमें यह तीसरी आवृत्ति है।

एल्बियन प्लाइवुड
बजबज (२४ परगना)

—बंशीधर शास्त्री एम. ए.

★

परमपद-प्राप्तिकी भावना

(अंतर्गत)

गुणश्रेणीस्वरूप

—ॐ—

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?
क्यारे थइशुं, बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो ?
सर्व सम्बन्धनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कव महत्पुरुषने पंथ जो ॥अपूर्व० ॥१॥

सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयमहेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो ॥अपूर्व० ॥२॥

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे,
देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो;
तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिये,
वर्ते एवुं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो ॥अपूर्व० ॥३॥

आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्ते देह पर्यंत जो;

घोर परिषह के उपसर्ग भये करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो ॥अपूर्व० ॥४॥

संयमना हेतुथी योग प्रवर्तना,
स्वरूप लक्षे जिन आज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो ॥अपूर्व० ॥५॥

पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता,
पंच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो;
द्रव्य, क्षेत्र ने काल, भाव प्रतिबंधवण,
विचरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो ॥अपूर्व० ॥६॥

क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोध स्वभावता,
मान प्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो;
माया प्रत्ये साक्षी माया भावनी,
लोभ प्रत्ये नहीं लोभ समान जो ॥अपूर्व० ॥७॥

बहु उपसर्ग-कर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वंदे चक्रि तथापि न मळे मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो ॥अपूर्व० ॥८॥

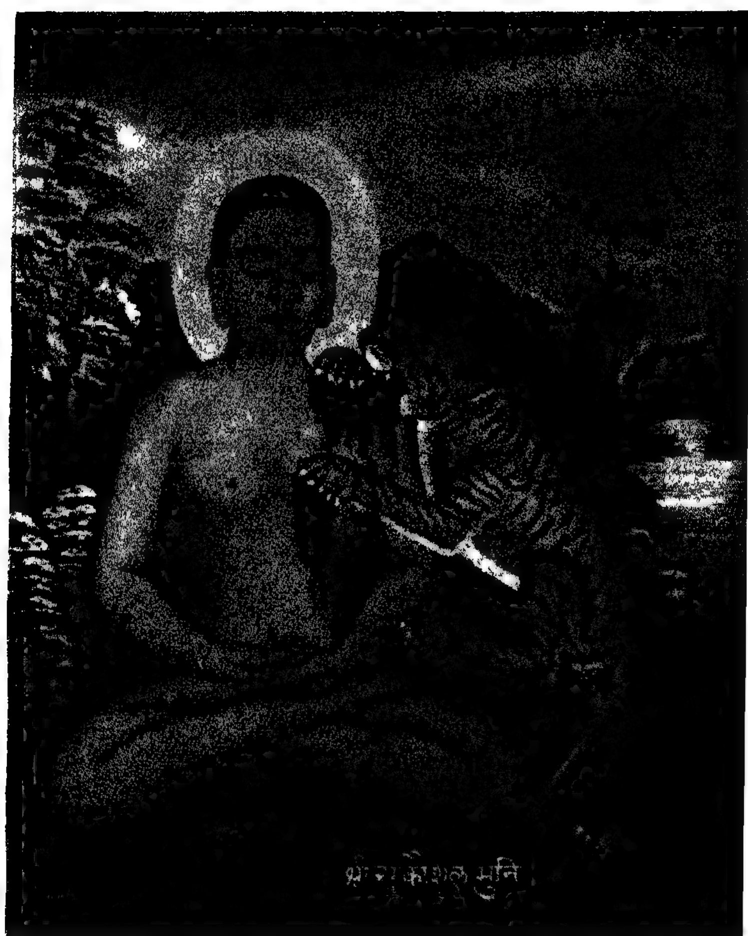
नग्न भाव मुंडभाव सह अस्नानता,
अदंत धोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश रोम नख के अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्य-भाव संयममय निर्ग्रंथ सिद्ध जो ॥अपूर्व० ॥९॥

शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता,
मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो;
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता,
भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो ॥अपूर्व० ॥१०॥

एकाकी विचरतो वळी स्मशानमां,
वळी पर्वतमां वाघ सिंह संयोग जो;
अडोल आसन ने मनने नहीं क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो ॥अपूर्व० ॥११॥

घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं,
सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्न भाव जो;
रजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो ॥अपूर्व० ॥१२॥

एम पराजय करीने चारित्रमोहनो,
आव्युं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो;
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो ॥अपूर्व० ॥१३॥


मुनि

मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो;
अंत समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई,
प्रगटावुं निज केवलज्ञान निधान जो ॥अपूर्व० ॥१४॥

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां,
भवनां बीज तणो आत्यंतिक नाश जो;
सर्व भाव ज्ञाता द्दष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो ॥अपूर्व० ॥१५॥

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहां,
जली सींदरीवत् आकृति मात्र जो;
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे,
आयुष पूर्णे, मटिये दैहिकपात्र जो ॥अपूर्व०॥१६॥

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहां सकल पुद्गल संबंध जो;
एवुं अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्ततुं,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो ॥अपूर्व० ॥१७॥

एक परमाणु मात्रनी मळे न स्पर्शता,
पूर्ण कलंक रहित अडोल स्वरूप जो;
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु अमूर्त्त सहजपदरूप जो ॥अपूर्व० ॥१८॥

पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी,
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;
सादि अनंत अनंत समाधि सुखमां,
अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो ॥अपूर्व० ॥१९॥

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्यवाणी ते शुं कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो ॥अपूर्व० ॥२०॥

एह परमपद प्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में,
गजा वगर ने हाल मनोरथ रूप जो;
तो पण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो,
प्रभु आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो ॥अपूर्व० ॥२१॥



वचनामृत

आत्मभ्रान्ति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान;
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहीं, औषध विचार ध्यान ।

*　　　*　　　*

उपजे मोह विकल्प से, समस्त यह संसार;
अन्तर्मुख अवलोकतैं, विलय होत तत्काल ।

*　　　*　　　*

वचनामृत वीतराग के परमशांत रस मूल;
औषध जो भवरोगके, कायर को प्रतिकूल ।

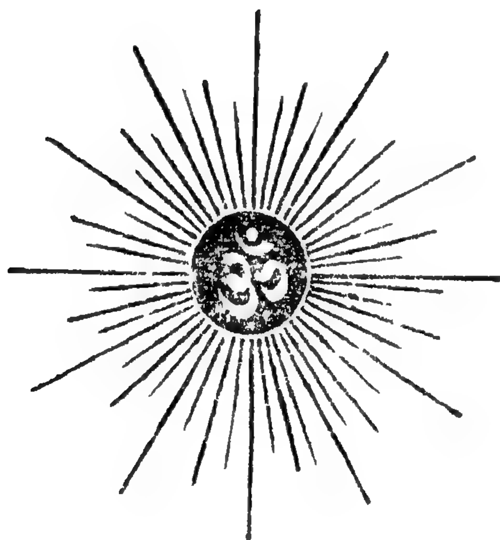
*　　　*　　　*

शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम;
दूसरा कहना कितना? कर विचार तो पाम ।
आत्मा सत् चैतन्य मय, सर्वाभास रहित;
जिससे केवल पाइये, मोक्ष पंथ ये रीत ।



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	लीटी	अशुद्ध	शुद्ध
४६	१५	किसीको	किसीका
४७	२१	वाला	स्वरूप
६४	१८	शिथल	शिथिल





गुणस्थानक क्रमारोहण परमपद प्राप्तिकी भावना

श्रीमद् रायचंद्र प्रणीत

अपूर्व अवसर

पर

श्री कानजी स्वामीके प्रवचन



इस काव्यमें मुख्यतया परमपद (मोक्ष) की प्राप्तिकी भावना व्यक्त की गई है। आत्मा त्रिकाल ज्ञाताद्रष्टास्वरूप अनन्त गुणोंका पिण्ड है; उसका अनुभव करनेके लिये सर्वज्ञ वीतरागकी आज्ञानुसार तत्त्वार्थोंकी निश्चयश्रद्धा कर, ज्ञानानन्द स्वभावकी तरफ प्रवृत्त होनेका पुरुषार्थ बढ़नेसे क्रमशः शुद्धताकी वृद्धि होती है। इस अपेक्षासे जीवकी अवस्था में १४ गुणस्थान होते हैं। उनमेंसे चौथे गुणस्थानसे विकासकी श्रेणी प्रारम्भ होती है।

श्रीमद् रायचन्द्रजीने अपनी जन्मभूमि, ववाणिया (सौराष्ट्र) में प्रातःकाल अपनी मातुश्रीकी शय्या पर बैठकर इस 'अपूर्व अवसर' नामक काव्यकी रचना की थी।

जैसे महल के ऊपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ होती हैं वैसे ही मोक्षरूपी महलमें जानेके लिये १४ सीढ़ियाँ हैं। उनमेंसे प्रथम सम्यग्दर्शनरूप चौथे गुणस्थानसे मंगलमय प्रारम्भ करते हैं। आत्मस्वरूपकी जागृतिकी वृद्धिके लिये यह भावना है।

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे?
क्यारे थइशुं बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो?
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने?
विचरशुं कब महत्पुरुषने पंथ जो? अपूर्व० ॥१॥

गृहस्थ धर्मात्मा आत्माकी प्रतीति सहित पूर्णताका लक्ष्य रखते हुए इन तीन प्रकारके मनोरथ (भावना) भाता है। (१) मैं सब सम्बन्धों से छूटूँ (२) स्त्री आदि बाह्य परिग्रह तथा कषायरूप अभ्यंतर परिग्रहका पुरुषार्थ द्वारा त्याग कर निर्ग्रंथ मुनि होऊँ और (३) मैं अपूर्व समाधिमरण प्राप्त करूं। किन्तु संसारी मोही जीव यह मनोरथ-भावना भाता है कि मैं गृहस्थ कुटुम्बकी वृद्धि करूँ, धन, घर, पुत्र परिवारकी वृद्धि हो और हराभरा खेत (भरा पूरा परिवार) छोड़कर मरूँ; यह विपरीत भावना ही संसारी जीव भाता है।

"अपूर्व अवसर" का अर्थ बाह्य अपूर्व काल नहीं है किन्तु इसका अर्थ आत्मद्रव्यमें अपूर्व स्वकाल होता है, वह शुद्ध स्वभावकी परिणति है। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टययुक्त है, स्वाधीन है। वह स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप है, वह नित्य टिककर परिणमती है। पहले आत्मा अज्ञान-भावमें रागादि परभाववाला होकर पररूप अपनेको मानता

हुआ परिणमन करता था, किन्तु जबसे यथार्थ सत्समागम द्वारा शुद्धात्माकी अंतरंग प्रतीति अत्यन्त पुरुषार्थसे की तबसे स्वभावमें परिणमन हुआ। वह परिणमन ही इस आत्माकी शुद्ध अवस्थाका काल है, वह स्वकाल' कहलाता है। आत्मज्ञान द्वारा स्वभावका भान रहता है, किन्तु अभी पूर्ण शुद्ध पर्याय प्रकट नहीं हुई, उसे पूर्ण करनेके लिए स्वरूपके भान सहित यह भावना है।

इस 'अपूर्व' में अनेक अर्थ गर्भित हैं, इसलिए इस 'अपूर्व' मंगलीकसे भावनाका प्रारम्भ किया जाता है। पहले अनुत्पन्न अपूर्व (स्वभाव-काल) कैसे आएगा? साधक इस मनोरथको साधता है। मनोरथ होनेमें मन तो निमित्त है किन्तु ज्ञान द्वारा उसको अस्वीकार कर साधक जीव स्वरूप-चिंतनकी जागृतिका उद्योत करता है। स्वरूपकी भावनाका (मनोरथका) प्रवाह चलता है, उसके साथ स्वभाव-परिणतिका प्रवाह भी चलता है। उस भावनाके साथ मनका निमित्त है तथा रागका अंश है उससे विचारका क्रम होता है और उसमें लोकोत्तर पुण्यका बंध सहज ही हो जाता है, किन्तु प्रारम्भसे ही उसकी अस्वीकारता है। उसे भेदों और विकल्पोंका आदर नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय भावमनोरथका स्वरूप चिंतवन है। तत्व-स्वरूपकी भावना विचारते हुए अपने मनका निमित्त आता है। पूर्ण शुद्धात्मस्वरूप सिद्ध परमात्मा जैसा है ऐसा अपना स्वरूप लक्ष्यमें रखकर पूर्णताके लक्ष्यसे श्रीमद् आत्मस्वरूपकी भावना करते हैं। ऐसी यथार्थ निर्ग्रन्थ दशा, स्वरूप-स्थितिका अपूर्व अवसर कब होगा, ऐसी अपने स्वभावकी भावना है।

"मैं कब अंतरंग एवं बहिरंगसे निर्ग्रन्थ होऊंगा' अर्थात्

अभ्यंतर राग-द्वेषकी ग्रंथिसे और बाह्यसे (स्त्री, धनादि तथा कुटुम्बसे) निवृत्त होऊँ यह भावना भाता है। वह वीतराग-दशा धन्य है! वह निर्ग्रन्थ मुनिपद धन्य है! वह पूर्ण-दिगम्बर सर्वोत्कृष्ट साधक दशा धन्य है!

"सर्व सम्बन्धोंका तीक्ष्ण बन्धन छेदकर" शारीरिक, मानसिक तथा द्रव्यकर्मका सम्बन्ध (मोह) छोड़कर मुनि-दशा प्रगट करूँ; आत्मा अबन्ध स्वरूप है, उसके ज्ञानकी स्थिरताको सूक्ष्म रीतिसे जान कर मैं भेदज्ञान द्वारा कर्मोदयकी सूक्ष्म संधिको नष्ट करूँ ऐसी यह भावना है। आत्मस्वरूपके भान द्वारा रागरहित ज्ञानमें स्थिरता होते ही अनादि संतानरूप संसारवृक्षका मूल-रागद्वेषकी गांठ छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाती है।

"महान् पुरुषोंके मार्गमें कब विचरूँगा" संसारमें स्वच्छंदी लड़का इच्छा करता है कि कब मेरा पिता मरे और मैं सब अधिकार और कारबार कब्जेमें करूँ? उससे विपरीत इस लोकोत्तर मार्गका साधक जीव यह भावना भाता है कि अतीन्द्रिय ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गमें प्रवर्तनेके लिए तीर्थंकर भगवान कब मिले और कोई महान् बुद्धिमान निर्ग्रन्थ जिस पंथमें, आत्मस्वरूपमें विचरे उस पंथमें मैं वीतराग कुलकी टेक-मर्यादानुसार कब विचरूँगा? यह सनातन शाश्वत आत्मधर्मका सद्भूत व्यवहार है। अनन्त ज्ञानी पुरुषोंने जिस पंथमें विचरण कर मोक्ष पदको प्राप्त किया, उस ही पंथमें मैं कब विचरूँगा? इस भावनामें अनन्त ज्ञानी भगवन्तोंके प्रति विनय व्यक्त किया गया है और साधकको अपनी पतित अवस्थाका भी ज्ञान है क्योंकि असीमित सामर्थ्यवाले ज्ञानकी पहचान हुई है किन्तु अभी प्रकट नहीं हुआ है ऐसा वह

जानता है। यह पुराण-पुरुष (सत्पुरुष)की आराधना है, इसमें कितनी निर्मलता है। अपने आत्मधर्मका विकास हुआ है इसलिये साधक अनन्त ज्ञानका बहुमान करता है, वह परमार्थका आदर है।

श्रीमद् रायचन्द्र सम्यग्दर्शनको नमस्कार करते हुए कहते हैं कि हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो! आपके वचन, स्वरूपकी खोजमें इस पामरको परम उपकारक हुए हैं इसलिए मैं आपको अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ। हे वीतराग जिन! आपके अनंतानंत उपकार हैं। यह गुणका बहुमान, सत्कार, विनय किया है, उसमें परमार्थसे अपने गुणोंका आदर है। श्रीमद्ने एक डेढ़ पंक्तिके चरणमें लिखा है कि कुन्दकुन्दाचार्य आत्मस्वरूपमें बहुत दृढ़तासे स्थित थे।

"विचरशुं कब महत्पुरुष ने पंथ जो" उनमें प्रथम अरिहन्त प्रभु सर्वज्ञदेव हैं वे प्रथम महत्पुरुष हैं तथा दूसरे महत्पुरुष आचार्य साधुवर्य मुनिवर हैं। संसारकी जातिपाँति छोड़कर सन्तों-मुनिवरोंकी चैतन्यजाति साधक अवस्थामें (आत्मस्थ स्थितिमें) रहना ही है, इसलिए साधक धर्मात्मा यही भावना भाता है कि इन महामुनियोंके मार्गमें कब विचरूँगा, अनागार मार्गको कब अपनाऊँगा। इस प्रकार इस पहली गाथामें कहा कि-ऐसा अपूर्व अवसर कब आएगा?

सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी।
मात्र देह ते संयम हेतु जोय जो॥
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं।
देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो।अ०।२॥

पहली गाथामें अपूर्व अवसरकी, बाह्याभ्यंतर निर्ग्रन्थत्वकी और सब सम्बन्धोंके बन्धनको तोड़नेकी भावना भायी। अब आगे बढ़ते हैं।

"सर्व भावसे उदासीन वृत्ति कर" सर्व भावका साक्षी सर्वत्र अकर्तापन, क्रमबद्ध पर्यायका ज्ञाता, परसे उदासीन है। उद्=जगतके सब परभावोंसे भिन्न–स्वसन्मुख होनेमें प्रयत्नशील होते हुए ऊँचे भावमें; आसीन=बैठना, यह सत्यार्थसे संसारसे अनासक्त दशा है।

अकेली उदासीनता सुखकी सहेली है ।
उदासीनता अध्यात्मकी जननी है ।।

यह कथन अठारह वर्षीय श्रीमद् द्वारा किया गया है। उदासीनता अर्थात् मध्यस्थता, समभावदशा है। वह अध्यात्मकी जननी है क्योंकि उससे शुद्ध आत्मस्वरूप प्रकट होता है। तीर्थंकरका पुण्य, इन्द्र चक्रवर्तीके पुण्यकी ऋद्धि, स्वर्गका सुख ये सब सांसारिक उपाधिभाव हैं। इसलिए ज्ञानीके सब परभावोंसे उदासीनवृत्ति है। जो कुछ पुण्य और पाप (शुभ-अशुभ) वृत्ति ज्ञानमें दिखाई पड़े तो वह सब मोहकी विकारी अवस्था है, उन सब परभावोंसे ज्ञानीके उपेक्षावृत्ति है। वह दूसरेसे राग-द्वेष, सुख-दुःख नहीं मानता। अपनी निर्बलतामें राग होता है किन्तु वह उसका स्वामी नहीं होता।

ज्ञानीके ज्ञानमें संसारभाव (शुभ-अशुभभाव) का आदर नहीं है। कोई प्रश्न करे कि मुनि होनेसे सब कुछ छूट जाता

है क्या? क्या संसारी भेषमें मुनिभाव नहीं आता? या वस्त्र सहित मुनि नहीं हो सकता क्या? क्या त्यागी होनेसे मुनित्व प्रगट हो सकता है? इन सब प्रश्नोंका उत्तर यह है कि—

ध्रुवस्वभावके आलम्बनके बल द्वारा अनन्तानुबन्धी, प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान, उन तीन जातिके चतुर्कषायोंके त्याग होते रागके सब निमित्त सहज ही छूट जाते हैं, इसलिए मुनिके केवल देह रहती है। सम्यग्ज्ञान सहित नग्न-दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनिदशाकी यह भावना है। जितना राग छूटे उतना रागका निमित्त छूट जाता है यह नियम है, मुनित्व सर्वोत्कृष्ट साधक दशा है। जब सातवां और छठा गुणस्थान बारम्बार बदलता रहता है वहाँ महान पवित्र वीतराग दशा और शांतमुद्रा होती है। आत्मामें अनन्त ज्ञान, वीर्यकी शक्ति है। आठ वर्षके बालकके केवलज्ञान हो जावे और करोड़ वर्ष पूर्वकी आयु रहे तब तक शरीर नग्न रहे और महापुण्यवन्त परम औदारिक शरीर बना रहता है ऐसा प्राकृतिक त्रैकालिक नियम है। मुनि अवस्थामें मात्र देहके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रहता। देह होने पर भी देहके प्रति ममत्व नहीं है। केवली भगवानको रोग, आहार-निहार उपसर्ग, क्षुधा-तृषादि १८ दोष कभी भी नहीं होते।

'मात्र देह ते संयम हेतु होय जो' ज्ञानियोंके संयम हेतु, देहको देहकी स्थिति पर्यन्त टिकना है; मुनिको छद्मस्थदशामें राग है तब तक शरीर संयमके निर्वाहके लिये नग्न शरीर साधक है, किन्तु इसलिए भी शरीरकी कुशलताके लिये साधुको ममत्व नहीं होता। यह बात यथास्थान कही गई है, मुनित्वकी भावना और मुनिके स्वरूप कैसे हों यह जानना

प्रयोजनभूत है। देहको उपचारसे संयमका उपकरण कहा है। एषणा समिति पूर्वक निर्दोष आहारकी वृत्ति होती है किन्तु वह इन्द्रिय या विषय-कषायके पोषणके लिए नहीं होती लेकिन संयमके लिए होती है। संयम इन्द्रियदमन (अतीन्द्रिय शांतिमें ठहरनेवालोंका) निमित्तरूप होता है। इसका मूल कारण आत्मस्वभावका आलम्बनरूप स्थिरता है। सहज स्वाभाविक आत्मज्ञानमें ठहरना ही आत्म-स्वभावकी स्थिरता है।

'अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं' अर्थात् अन्य किसी अपवादसे भी बाह्य वस्त्रादि निमित्त साधु अवस्थामें स्वीकार्य नहीं हैं, यह इसमें बताया है। इसलिये स्वाभाविक (प्राकृतिक) सिद्धान्तसे निश्चित हुआ कि जिसकी आत्मा स्वयं सहज-रूपमें वर्तती है ऐसे साधकके बहिरंग निमित्तमात्र देह होती है किन्तु मुनिके उसका आश्रय नहीं है। पूजा–सत्कारके लिए या देहको सुन्दर दिखानेके लिए या अन्य किसी कारणवश भी मुनि अवस्थामें वस्त्रादिका ग्रहण नहीं है। जबतक पूर्ण वीतराग स्थिति न प्रगटे तबतक अल्प राग होता है इसलिए निर्दोष आहार लेनेकी वृत्ति होती है किन्तु उस वृत्तिका स्वामित्व उनके नहीं है। जिनकल्पी या स्थविरकल्पी किसी भी जैन मुनिके वस्त्र नहीं होता।

'देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो' ऐसी मुनि दशामें अंशमात्र भी देहमें आसक्ति या ममता नहीं होती। कोई कहे केवलज्ञान होनेके बाद आहार होवे तो? यह भी झूठी बात है। सातवें गुणस्थानमें ध्यान-समाधि दशा है, उसमें आहारकी वृत्ति नहीं होती तो उससे ऊँची भूमिकामें (७ वें गुणस्थानसे

आगेके गुणस्थानोंमें) आहारकी वृत्ति कैसे हो? नहीं ही होती। जिनशासनमें (मोक्षमार्गमें) मुनिके कैसी दशा हो यह यहाँ बताया है। चारित्र भावना (मनोरथ) द्वारा पुरुषार्थकी प्रकटता होनेसे गृहस्थपना छोड़कर मुनित्व ग्रहण करनेके विकल्प आते हैं। १६ वें, १७ वें, १८ वें तीर्थंकर भगवान चक्रवर्ती पदवीधारक थे। वे भी गृहस्थदशामें भगवती जिन-दीक्षाकी भावना भाते थे और उस भावनाके परिणामस्वरूप संसार छोड़, मुनित्व अंगीकार कर जंगलमें नग्न शरीर होकर चल पड़े। जिनकी १६ हजार देव सेवा करते थे और जिनके बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा चँवर करते थे ऐसे छः खण्डके अधिपति भी मुनि होकर जंगलमें चले गये। उनके देहकी ममता पहलेसे ही नहीं होती थी, किन्तु कमजोरी जितना चारित्रमोहका राग रहता है, उसके विकल्पको तोड़कर दिगम्बर अवस्थामें ७ वें गुणस्थान (साधक-भूमिका) में प्रवेश करते हैं और उस समय उनके चतुर्थ ज्ञान-मनःपर्यय ज्ञान प्रकट होता है। वह स्वरूपके साधनमें अपने ही अपरि-मित आनन्दस्वभावको देखता है इसलिए धर्मात्माकी देह पर दृष्टि (ममत्वभाव) सहज ही दूर हो जाती है। वह देहमें प्रतिकूलतासे दुःखका अनुभव ही नहीं करता।

'यथाजात' जन्म समय जैसा शरीर होता है वैसे ही शरीरकी स्थिति मुनिकी साधक दशामें होती है। उस साधक दशामें २८ मूलगुण अवश्यमेव निमित्त होते हैं। वह मुनित्व (निर्ग्रन्थ साधक दशा) हो तब उसकी मुद्रा गम्भीर, निर्विकारी, वीतराग, शांत, वैराग्यवन्त, निर्दोष होती है। ऐसे गुणोंके भण्डार मुनिका शरीर निर्विकारी नग्न बालककी तरह होता है। मुनि आत्मसमाधिस्थ परम पवित्र ज्ञानमें रमण करते हैं। उनके

छठे गुणस्थानमें आहार लेनेका विकल्प होता है वहाँ आहार लेनेकी वृत्ति अवश्य है किन्तु मूर्छा (मोह) या लोलुपता नहीं है। मुनि शरीरके रागके लिये नहीं किन्तु संयमके निर्वाहके लिये एक ही समय आहार-जल हाथमें लेते हैं। आहार करते समय मुनिको आहारका लक्ष्य नहीं किन्तु पूर्ण कैसे होऊँ? यही लक्ष्य है; निरन्तर जाग्रत दशा है। पूर्णताकी स्थिति कब आवेगी? इस भावनामें ही शुद्धताका अंश निहित है। जिनआज्ञा और वीतराग दशाका यथार्थ विचार ही यह भावना है, वह शुद्ध भावनाका कारण है। यदि कारणमें कार्यका अंश न हो तो उसे वीतरागदशाका 'साधक' कारण संज्ञा नहीं मिले। ऐसी उत्कृष्ट साधक दशा हो ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? यही उच्च भावना यहाँ की गई है। स्वकालका अर्थ 'स्वसमय' है। श्री अमृतचन्द्राचार्यने समयसार ग्रन्थके पहले कलशमें 'समय'का अर्थ 'आत्मा' बताया है और उसमें 'सार' जो द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहित शुद्धात्मा है उसे नमस्कार किया है। यहाँ यह भावना की गई है कि पूर्ण शुद्ध अवस्था जल्दी प्रकटे।

श्रीमद् रायचन्द्र सम्यग्दृष्टि और आत्मानुभव करनेवाले थे इसलिए यहाँ मुनित्वकी भावना भाते हैं। जैसे पूर्ण असंग निरावरण आत्मस्वरूपका लक्ष्य किया है वैसे ही पूर्णताका लक्ष्य 'परमपद प्राप्ति'का उपाय क्या? यह वे विचार करते हैं। पूर्ण 'समयसार' साधनेकी भावना व्यक्त की है ॥ २ ॥

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे,
देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो,

तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिए,
वर्ते एवुं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो ॥अपूर्व०॥३॥

आत्माके अभिप्रायमें भ्रान्ति अर्थात् पुण्य-पाप-रागादि शुभाशुभ परिणामको अपना मानना, उसको आदरणीय-करने योग्य मानना दर्शनमोह है। आत्मा अपनेको भूलरूप मानता है इसलिए परका कर्ता-भोक्ता-स्वामी हूँ यह कल्पना करता है। निश्चयसे आत्मतत्त्व सदा अतीन्द्रिय ज्ञानमय पूर्ण असंग है, उसका अबंध स्वभाव है, वह परके बन्धनरहित है। वस्तुस्वभाव ऐसा होते हुये भी ऐसा न मानते हुये मेरेमें जड़कर्मके निमित्तका बन्धन है, मैं पुण्यादि युक्त हूँ, राग हितकर है, शुभ परिणाम मेरा कर्त्तव्य है, इसप्रकार परभावमें एकत्वबुद्धि होना दर्शनमोह है। एक आत्मतत्वको अन्य तत्वके साथ एकरूपवाला, उपाधिवाला बन्धवाला मानना दर्शनमोह है।

आत्मा स्वाधीन ज्ञायक वस्तु है, वह कभी स्वभावसे भूलरूप नहीं होता। मोहकर्मकी एक जड़ प्रकृतिका नाम दर्शनमोह है वह तो निमित्तमात्र है। जीव अज्ञान अवस्थामें रहे तब तक अपनेको अन्यथा मानता है, परसे भला मानता है, किन्तु वह कभी किसी प्रकारसे पर का कर्ता-भोक्ता नहीं हो सकता। भूल दूर हो सकती है क्योंकि भूल उसका मूल स्वभाव नहीं है किन्तु पर्याय है भूल होनेमें उपाधिरूप निमित्तकारण अन्य होना चाहिये इसलिये विकारी अवस्थामें पर निमित्त होता है। निमित्त तो परवस्तु है ऐसी यथार्थतासे परवस्तुकी अवस्थाका भेदज्ञान नहीं होनेके कारण वह परसे अपनेको अच्छा-बुरा मानता है, अपनेको पररूप और परको अपने रूपमें मानता है, स्वयं रागी, द्वेषी, मोही बनता है,

उनका निमित्त पाकर नये रजकण बँधते हैं; किन्तु जिस समय जीव ज्ञानभाव द्वारा अज्ञान अवस्थाका अभाव करता है उस समय दर्शनमोह नष्ट हुआ और ज्ञान प्राप्त हुआ ऐसा कहा जाता है। परको स्व-रूप माननेमें यह दर्शनमोह कर्म निमित्तरूप है उसका नाश किया है ऐसा यहाँ कहा है।

शक्तिरूपमें जीवका स्वभाव शुद्ध है, अभी तो शुद्ध पर्यायका अंश ही प्रकट हुआ है उसको पूर्ण करनेकी भावना है। जैसा सर्वज्ञ भगवानने जाना है वैसा ही आत्मा है ऐसा यथार्थज्ञान उत्पन्न हुआ है। ज्ञान उत्पन्न होगा, ऐसी दीर्घकालीन आशा नहीं है। आत्मज्ञान प्रकट हुआ है वह क्या है यह बतलाते हैं।

'देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो' आठ कर्मोंके रजकण द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म से भिन्न, केवल आत्मा शुद्ध है। जैसे नारियल में गिरी का गोला भिन्न जाना जाता है वैसे ही स्पष्ट, प्रत्यक्ष, ज्ञानमें चिद्घन आत्मा निःसन्देह रूपसे भिन्न जाना जाता है। आत्मा परसे सर्वथा भिन्न निराला है ऐसा केवल शुद्ध आत्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान साधक अवस्थामें वर्तता है। ऐसा भान है वह सम्यक्दर्शन है, वह चौथी भूमिका (चौथा गुणस्थान) है। जितने अंशमें वीत-रागता वह चारित्र है। साथमें उसे जैनदर्शनकी इकाई कहा है।

जैसे सम्यग् अभिप्रायका भान हुआ उसके साथ असंगता-का पुरुषार्थ भी होगा ही। कभी हीनादिक रूपसे हो किन्तु उसकी अब स्वसन्मुख ही परिणति होती है। केवल चैतन्यका भान है उसमें एक परमाणुमात्र का सम्बन्ध नहीं है पर निमित्त की तरफकी रुचिसे होनेवाला विकार नहीं है। उसके अभिप्रायमें ऐसी निःशंक श्रद्धा है कि पूर्ण मुक्त परमात्मा

समान अकेला आत्मा भिन्न है, बन्ध या उपाधि आत्माका स्वभाव नहीं है, ऐसा होते हुए भी आत्माको दयावान, पुण्यवान, परका कर्ता, भोक्ता तथा शुभाशुभ बन्धयुक्त मानना मिथ्यादर्शन-शल्य है। कोई परमार्थ तत्त्वसे रहित होकर स्वच्छन्द आचरण करे उसकी यहाँ चर्चा नहीं है। ज्ञानीको प्रत्यक्ष अनुभवस्वरूप सम्यक्ज्ञान प्रमाण है, इसलिए सहज एकरूप अवस्था (परसे भिन्न) आत्मस्वरूपमें अभेद है ऐसा लक्ष्य उसे निरन्तर रहता है।

'आत्माका एक भी गुण परमाणुमें नहीं मिलता, उसी प्रकार चेतनगुणमें निमित्तका प्रवेश नहीं है।' अनुभवदशाके ज्ञान द्वारा पुरुषार्थकी जागृतियुक्त ज्ञानी ऐसा कहते हैं। स्वरूपकी पूर्ण स्थिरता हो जाय तो ऐसी उत्कृष्ट साधक स्वभावकी भावना भानेकी आवश्यकता नहीं रहे। किन्तु चारित्र गुण अपूर्ण है इसलिए चारित्रमोह कर्मके उदयमें थोड़ा जुड़ना होता है वह विघ्न है ऐसा जानता है। जितने अंशोंमें कर्मकी तरफ अपनेको प्रवृत्त करे उतने अंशोंमें विघ्नरूप बाधक-भाव है।

"तथा अक्षीण चारित्रमोह विलोकिए" इस पंक्तिमें श्रीमद्‌ने कहा है कि चारित्रमोह विशेषरूपसे क्षीण होता जाता है उसे देखिये। सम्यक् बोध द्वारा शुद्ध स्वरूपका ज्ञान होनेसे साधक स्वभाव प्रकटता है किन्तु उसमें अस्थिरता कितनी दूर हुई और कितनी है यह निश्चित कर स्थिरता द्वारा चारित्रमोह को क्षय करनेके लिए पुरुषार्थ बढ़ाता है और ज्ञानकी स्थिरता बढ़नेसे चारित्रमोह विशेष रूपसे क्षीण होता जाता है ऐसी दृढ़ता स्वानुभवमें होती है इसका नाम

'विलोकना' है। आत्माका भान होनेके पश्चात् चारित्रमोह 'प्रक्षीण' अर्थात् विशेष रीतिसे क्षय होता जाता है। यहाँ उपशमका प्रकरण नहीं है। जो अप्रतिहत, धाराप्रवाही ज्ञान-बलकी जागृतिसे आगे बढ़े उसके उपशम नहीं किन्तु क्षय करनेका बल रहता है। अग्निको राखसे ढके उस प्रकारके उपशमकी यहाँ चर्चा नहीं है किन्तु पानीसे उसे बुझा दे ऐसे चारित्रमोहके क्षयकी भावना यहाँ की गई है। आत्मा ज्ञान-मूर्ति पवित्र शुद्ध है, उसके भान में रहकर सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गमें प्रकट अवस्थामें स्थिरता बढ़ाऊँ, रागद्वेषका नाश होता हुआ देखूँ, और मेरे स्वरूपका विकास होनेसे विशेष निर्मल अवस्था देखूँ, ऐसा इस पंक्तिमें कहा है। राग, द्वेष, हर्ष, शोक, रति, अरति इत्यादि चारित्रमोहकी अवस्था घटती जाती है।

'वर्ते एवुं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो' इसका अर्थ यह है कि परमाणु मात्रसे मेरा सम्बन्ध नहीं है इसलिए राग, द्वेष, पुण्यादि अस्थिरताका भी सम्बन्ध ज्ञानमें नहीं है ऐसा मैं शुद्धज्ञानघन हूँ। निर्धूम अग्निका अंगारा केवल अग्निमय ही प्रज्वलित रहता है ऐसी चैतन्यज्योति है उसे पहिचानकर, देखकर ज्ञानदशामें स्थिर एकाग्ररूप से (ज्ञानमें ही) ज्ञाता बना रहे तो क्रमशः सब कर्म क्षय हो जायें और द्रव्यस्वभावमें पूर्ण, शुद्ध, पवित्र, निर्मलरूप जैसा आत्मा है वैसा ही अवस्था (पर्याय) में निर्मल शुद्ध हो जाये। केवलज्ञानमें उत्कृष्ट पर्याय शुद्धतारूप परिणमती है ऐसा परमात्मस्वभाव प्रकट हो जाय ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा? अर्थात् स्वसमय स्थिति कब आवे यही भावना यहाँ की गई है

आत्म स्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्ते देह पर्यन्त जो,
घोर परिषह के उपसर्गभये करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो ।अपूर्व०।४।

इस पदमें श्रीमद्‌ने ज्ञान सहित पुरुषार्थकी धारा व्यक्त की है। और ये २१ पद अविराम एकसाथ लिखे गए हैं, इस ज्ञानस्वरूपकी एकाग्रता और उस समयकी विरल दशा कैसी होगी? अपूर्व साधनका संस्कार कैसे होगा! इस प्रकारकी परम आश्चर्यकारी सद्‌विचार श्रेणी होवे तब कैसे परमार्थरूप काम कर सकता है, ऐसे गंभीर न्यायका विचार करो। क्या ऐसी अपूर्व बात किसी अन्यके पाससे ला सकते हो? जिनकी बुद्धि मताग्रहसे मोहित है उनको सत्यकी प्राप्ति नहीं होती। लोग मध्यस्थभावसे तो विचार नहीं करते और केवल निंदा करते हैं कि श्रीमद्‌ने अपने आपको पुजानेके लिए इस काव्यको लिखा है, किन्तु ऐसा कहनेवाले अपनी आत्मामें भयंकर अशातना करते हैं। उनका गृहस्थ वेष देखकर विकल्पमें नहीं पड़ना चाहिये। ऐसी अपूर्व भावनाकी वाणीका अपूर्व योग कोई लावे तो? तोता रटंत से यह सम्भव नहीं है। जिसके सहज पुरुषार्थकी धारा प्रकट हो उसको कोई नहीं कहता कि तुम इस समय अपूर्व अवसरकी अन्तर्गत भावनाका काव्य लिखो, किन्तु जिसके जिनदीक्षा (भगवती दीक्षा) का बहुमान हो उसकी आत्मा अन्तरंगसे ध्वनि करती हुई स्थिरतारूप पुरुषार्थ की माँग करती है। वह निवृत्ति, वैराग्य प्रवृत्ति धारण करनेका पुरुषार्थ होता है कि सर्व-संगविमुक्त, जैसा बनूँ। श्रीमद्‌ने इस प्रकार मुनित्वकी भावना की थी।

यह घरमें हैं या वनमें? यह प्रश्न ही नहीं है, पूर्ण स्थिरताकी दृष्टि पुकारती है कि अब मैं कैसे पूर्ण होऊं? वर्तमान कालमें केवली भगवानका इस क्षेत्रमें अभाव है यह विरह दूर होकर पूर्ण स्वरूपकी प्राप्तिका अपूर्व अवसर कैसे आवे यह भावना की है। कोई कहे कि श्रीमद् व्यापार करते थे, धन संग्रह करते थे, किन्तु हे भाई! बाह्यदृष्टि द्वारा इन पवित्र धर्मात्माके हृदयको परखना कठिन है क्योंकि वे गृहस्थ वेषमें थे। साधारण जीवोंको अन्तरकी उज्ज्वलता देखना बहुत कठिन पड़ता है। समाजमें स्वच्छन्दता आदिका जोर था, उनको सत्य बात कौन कहे? उनके अन्तरमें सर्वज्ञ ज्ञानीका मोक्षमार्ग था किन्तु वे तत्कालीन समाजको देखकर अधिक प्रकटमें नहीं आए; लोगोंका पुण्य ऐसा कैसे होता? कालकी बलिहारी है। उस समय लोग इस प्रकारकी बात सुननेको तैयार नहीं थे। उस कालकी अपेक्षा यह काल अच्छा है, क्योंकि हजारों भाई और बहनें प्रेमसे इन बातोंको सुनते हैं। परीक्षा पूर्वक अपनी पात्रतासे सत्य समझें, ऐसे बहुतसे व्यक्ति तैयार हुए हैं।

वर्तमानमें महाविदेह क्षेत्रमें साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु तीर्थंकर भगवान विराजमान हैं, वहाँ सनातन दिगम्बर वीतराग शासन विद्यमान है। हजारों लाखों सन्त मुनियोंके संघ हैं। वह क्षेत्र, काल और वहाँ होने वाले धन्य हैं; यह विरह किसको कहे। श्रीमद्ने ऐसे महत्पुरुष सर्वज्ञ भगवानके विरहको जानकर ऐसी भावना की थी। किसी ने कहा भी है कि—

"भरतक्षेत्र मानवपणों रे लाध्यो दुःषमकाल,
जिन पूर्वधर विरहथी रे, दुल्लहो साधन चालो रे,
चन्द्रानन जिन सांभलोने अरदास।"

हे नाथ! हे भगवान! इस भरतक्षेत्र और इस पंचम कालमें आपका विरह हुआ, पूर्वधारी और श्रुतकेवलियोंका भी इस कालमें विरह है। इस विरहमें भी कर्मसम्बन्धको दूर करनेके लिए यह भावना की गई है। यहां साधक निश्चयसे अपने चन्द्रानन भगवानको याद करके विनती द्वारा अपने भावको प्रमुदित करता है। उस समय मनसम्बन्धी रागका जो अंश है उसमें मंद कषायकी भी रुचि नहीं होनेसे लोकोत्तर पुण्य सहज ही बँध जाता है किन्तु उसको प्रारम्भसे ही अस्वीकारता है। उस पुण्यके फलमें इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद भी सहज ही मिल जाते हैं। भविष्यमें तीर्थंकर भगवानके चरणकमलोंमें जाकर निर्ग्रंथ मार्गका आराधन करनेके लिए मुनित्व अंगीकार कर मोक्षदशा प्रकट करनेकी यह भावना है। इस कालमें वीतराग सर्वज्ञका योग नहीं है, किन्तु सर्वज्ञ-शासनका (वीतरागी धर्म-आत्मधर्मका) यह निर्ग्रन्थ मार्ग अनादि सत्पथ है, सनातन है और सदा रहेगा, ऐसी भावना पूर्ण शुद्धात्माकी प्रतीति, लक्ष्य और स्वानुभव सहित है। पूर्ण साध्यकी प्राप्तिके लिए नग्न मुनिदशा-सहित निश्चयचारित्र अंगीकार करना चाहिए।

प्रश्नः— गृहस्थ वेषमें केवलज्ञान और मुनित्व प्रकट होनेमें क्या बाधा है?

उत्तर-यह बात असत्य है, क्योंकि बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथ दशा प्रकट होनेसे, अभ्यन्तर पुरुषार्थसे तीनों कषायोंका नाश होनेसे बाह्य निमित्त (परिग्रह)का त्याग सहज ही होता है। गृहस्थावासमें कषायका सर्वथा त्याग नहीं हो सकता, इसलिए सच्चा मुनित्व होनेके लिये नग्नत्व—वस्त्ररहितपना होना ही चाहिये।

तीसरी गाथामें, दर्शनमोह दूर होने पर देहादिसे भिन्न केवल चैतन्यका ज्ञान होता है, ऐसा कहा है और ज्ञानीके शुद्धात्मबोध सहित ज्ञानकी एकाग्रता द्वारा हास्य, शोक, रागादि, अस्थिरता और चारित्रमोह कर्मके उदयका अभाव होता है। ऐसा होने पर सातवाँ गुणस्थान होता है। ध्याता, ध्यान, ध्येयका विकल्प छूटकर ज्ञानकी समाधिस्थ दशा, ध्यानकी स्थिरतारूप सातवीं भूमिका (मुनित्व) कैसे प्रकटे; यहाँ यह भावना की गई है। आत्मस्थिरता अर्थात् तन, मन, वचनके आलम्बनरहित स्वरूपकी मुख्यता जिसमें हो ऐसी स्थिरता, देहका अन्त हो तब तक रहे, यह भावना की गई है। जहाँ सातवाँ गुणस्थान कहा है वहाँ बुद्धिपूर्वक विकल्प न होने से निर्विकल्प दशा है। मुनि अवस्थामें छठे गुणस्थानमें बुद्धिपूर्वक तन, मन और वचनका शुभयोग, पंचमहाव्रतके शुभ विकल्पादि रहते हैं, फिर भी मुख्यरूपसे अन्तर-रमणता रहे, आत्मबलके द्वारा स्वरूपमें लक्ष्य रहे, ऐसी भावना बारबार होती है।

"घोर परिषह या उपसर्ग भये करी" आत्मस्थिरता शुभाशुभके विकल्प रहित होती है। शुद्ध स्वभावमें एकाग्रता इस प्रकारकी हो कि बाईस घोर परिषह आ जावें तो भी उनके प्रति अरति, खेद न हो। घोर परिषह आवें, फिर भी वे मेरी स्थिरताको नहीं डिगा सकते। छह-छह महीने तक आहार-पानी न भी मिले, सख्त सर्दी हो, तो भी उसका विकल्प नहीं आवे; आज बरफ गिरा इसलिए विहार न करूँ ऐसा विकल्प नहीं आवे, भयंकर ताप होते हुए भी यह भय न हो कि मुझे इससे दुःख होगा। यदि बाहरसे सूर्य प्रखर हो और ताप (गर्मी) भीषण हो तो मुनिको उग्र पुरुषार्थ

प्रकट होकर स्थिरता लानी चाहिए। उग्र साता-असाताके निमित्त भले ही आवें, किन्तु मेरी आत्मस्थिरताका अन्त न आवे, इस प्रकार मेरी निश्चलस्वरूप समाधिकी साधक दशा जयवन्त–जयशील वर्तती रहे। जिन पुरुषोंने विरुद्ध प्रसंगोंमें भी निश्चलदशा द्वारा परम आश्चर्यकारी संयम-समाधि धारण की है वे धन्य हैं। चाहे जितने प्रतिकूल संयोग हों, किन्तु ज्ञानी उनको बाधक नहीं मानता।

उपसर्ग चार प्रकारके हैं—देव अथवा व्यंतरकृत, तिर्यञ्चकृत मनुष्यकृत और अचेतनकृत कमठने श्री पार्श्वनाथ भगवान की मुनि दशामें उपसर्ग किया और श्री महावीर भगवानकी मुनिदशामें भी उपसर्ग हुये थे, किन्तु उन दोनोंके क्षोभ नहीं हुआ। ऐसे ही प्रत्येक धर्मात्मा मुनि आत्म-स्थिरतामें अडोल रहता है। घाणीमें पेले जाने पर भी उसे स्वरूपकी स्थिरताको छोड़नेका विकल्प नहीं आता। 'मैंने बहुत सहन किया' ऐसा विकल्प भी नहीं आता, और जो कदाचित् ऐसा समझे 'कि 'मैंने बहुत सहन किया' तो उसको कहना चाहिये कि उसे ज्ञान नहीं है। सामान्य लोग अध्ययन, श्रवण, मनन नहीं करते और निवृत्ति लेकर भी ऐसी अपूर्व भावना नहीं करते। श्रीमद् (राजचंद्र) यहाँ स्वरूपकी स्थिरताका चिंतन करते हैं; इस रूपमें वे अपने भाव व्यक्त करते हैं। उनके एक-एक शब्दमें अपूर्वता है, वे अपूर्व साधकदशा (मुनि-पर्याय) प्रकट होनेकी भावना भाते हैं।

संयमना हेतुथी योगप्रवर्त्तना,
स्वरूपलक्षे जिनआज्ञा आधीन जो;

ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अंते थाए निजस्वरूपमां लीन जो ।अपूर्व०।५।

उक्त पदमें की गई भावनाका अर्थ यह है कि शुभाशुभ भावको टालनेके लिये मुनि-अवस्थामें स्वरूपकी स्थिरतारूप उपयोग होता है, किन्तु जो उस स्वरूपमें निर्विकल्प रूपसे स्थिर नहीं रह सके वह शुभोपयोगमें (छठे गुणस्थानकमें) उतर आता है। जब शास्त्रश्रवण, शिष्यको उपदेश, देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति-आहार-विहारादिके शुभ भाव होते हैं तो वे भी संयमके हेतुरूपमें ही प्रवर्तित होते हैं। शरीर आदि पर-द्रव्योंकी जो क्रिया होती है उसमें वे मुनि अपना कर्तृत्व नहीं मानते और शुभ भावको हेय मानते हैं। 'मैं ज्ञाता, दृष्टा, असंग हूं' ऐसी दृष्टिको बनाये रखनेका पुरुषार्थ उस समय भी बना रहता है। इसलिए वह शुभपयोगरूप प्रवृत्ति वीत-राग भगवानकी आज्ञानुसार है।

चूंकि मैं पूर्ण अवस्थामें नहीं पहुँचा, इसलिए जिन भग-वानकी आज्ञाका आराधन करनेमें मेरी प्रवृत्ति होती है। वीतराग चारित्रदशामें निर्दोषतया प्रवर्तन करनेका मेरा भाव है, और यह भगवती पूज्य दिव्य जिनदीक्षाका बहुमान है। 'णमो लोए सव्वसाहूणं' अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मामें एकत्व रूपसे रमण करने वाले साधु वंदनीय हैं। अनन्त ज्ञानी भगवन्तों द्वारा प्ररूपित लोकोत्तर मार्ग (मोक्ष-मार्ग) में प्रवृत्ति करनेवाले बहुमान करनेका भाव साधकको आये बिना नहीं रहता।

साधक सातवीं भूमिका (गुणस्थान) में आराध्य-आराधक,

तथा मैं मुनि हूँ आदिके भाव, तथा व्रतादिके शुभ परिणामोंका विकल्प छोड़कर स्वसंवेदनमें स्थिर हो जाता है, वहाँ वंध-वंदक भाव नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि छठे गुणस्थानमें मुनित्वके आचार नियम तथा षट् आवश्यक आदि क्रियाका शुभ विकल्प अकषायत्वके लक्ष्यसे रहता है। भावना करते हुये वीतराग ज्ञानीके प्रति बहुत भक्ति रहती है और साधक कहता है कि हे नाथ! मैं जिनेन्द्र भगवानके धर्मकी श्रद्धा करता हूँ, उसकी रुचि करता हूँ, उसे अन्तरमें जानता हूँ, अनुभवता हूँ और उसकी आराधना करता हूँ। यहाँ जिनाज्ञाके विचारों द्वारा मेरा साधक स्वभाव कैसे बढ़े यह भावना है। पूर्ण यथाख्यातचारित्र ही एक उपादेय है। शुभाशुभ योगकी प्रवृत्ति मेरा स्वभाव नहीं है, शुभाशुभ-भावसे हित नहीं होता ऐसा भान होते हुए भी शुभभाव हुये बिना नहीं रहता। नीचेकी भूमिकामें (गुणस्थानमें) पुरुषार्थ करते हुये शुभभाव भी निमित्तरूपसे साथ रहता है।

'स्वरूप लक्षे जिन आज्ञा आधीन जो'—यह गुण प्रकट करनेकी बात है। जितने अंशोंमें जिनाज्ञा, विचार आदिका मानसिक आलम्बन छूटे उतने अंशोंमें स्वरूपकी स्थिरता सहज ही बढ़ती जाती है और तदनुरूप आज्ञा आदिके आलम्बनका विकल्प छूटता जाता है।

"ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां"—जैसे ज्ञानमें अंतरंग स्थिरता बढ़ती जावे वैसे निमित्तके विकल्प छूटते जाते हैं। भगवान क्या कहते हैं, इत्यादि आज्ञाका आलम्बन सातवें गुणस्थानमें सहज ही छूट जाता है। क्षण-क्षण मनके विकल्पात्मक परिणामोंका घटना और अंतरंगमें स्थिरता,

स्वरूप-रमणताका बढ़ना होता है। श्रीमद् रायचन्द्रने गृहस्थाश्रममें शैय्या पर बैठकर कैसी उत्तम भावना भायी !

" अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो "—' प्रभु क्या कहते हैं ' ऐसे विकल्पका आलम्बन भी छूट जाता है और मात्र ज्ञानस्वरूप समाधिमें स्थिरता रहे ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा, यह भावना यहाँ भायी गई है। ऐसे आत्मस्वरूपकी स्वकाल-दशा, निर्ग्रंथ वीतरागता धारक मुनिपद इस देहमें प्राप्त हो, ऐसा अपूर्व अवसर (शुद्ध पर्यायकी निर्मलता, स्थिरता) कब आयेगा ? चैतन्यकी शक्तिमेंसे ही यह भावना भानी चाहिये। अपने शुद्धस्वरूपकी भावना करनेवाले काल-क्षेत्रकी प्रतीक्षा नहीं करते वे अपने शुद्धस्वरूपको देखते हैं। जहाँ " पूर्णताके लक्ष्यसे प्रारम्भ " ऐसा कहा गया है वहाँ पूर्ण पर दृष्टि है। जिसको जिसका मतलब होता है वह उसका वायदा नहीं करता। जिसमें उत्कृष्ट रुचि हो उसमें क्षणमात्रका विलम्ब भी नहीं सहा जाता। आत्माका स्वभाव आनन्दस्वरूप है, इसलिये उसकी भावनामें आनन्दकी लहर-हिलोर आना चाहिये, उस आनंदमें अकेला आत्मा ही चिन्तनमें आता है।

आत्मस्थिरता और उसका पुरुषार्थ अपने स्वयंके अधीन है, किन्तु मन, वचन और कायका योग स्थिर रहे या चलायमान हो, यह उदयाधीन है। उन योगोंके प्रवर्तनके सर्वथा घटने रूप अयोगीपना तो चौदहवें गुणस्थानमें होता है। सातवें गुणस्थानमें अप्रमत्त दशामें ' मैं द्रष्टा हूँ ' आदि सब विकल्प छूटकर आत्मस्वरूपमें स्थिरता रहती है, उसमें

बुद्धिपूर्वक किसी प्रकारके विकल्पका प्रवेश नहीं है। उसमें होनेवाले अतिसूक्ष्म विकल्प केवलज्ञानगम्य हैं, साधकको तो उन विकल्पोंका लक्ष्य नहीं है। 'अपूर्व अवसर' काव्यमें १२ वीं पंक्ति तक सातवें गुणस्थान पर्यन्तकी भावना समझनी चाहिये। 'अवसर'का अर्थ है—उन-उन भावोंकी स्थिरताकी अवस्था, एकाग्रता। यहाँ मुख्यरूपसे मुनित्वको निर्ग्रन्थ-दशाके अवसरको बताया है।

पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता,
पंच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो;
द्रव्य क्षेत्र ने काल भाव प्रतिबंधवण,
विचरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो ।अपूर्व ।६।

यह भावना धन्य है! इस अपूर्व साधकस्वभावकी निर्ग्रन्थ दशाका होना धन्य है! एक दिन यह भावना पढ़ी जा रही थी तब एक मताग्रही बोला—"श्रीमद् ऐसी भावना भाते हुए भी साधु क्यों नहीं बने?" अरे! कैसी अधम मनोदशा है। पंचमकालकी बलिहारी है। निंदा करने वालेको इतना भी ज्ञान नहीं है कि यह तो भावना है। सम्यक्दर्शन होनेके साथ मुनित्व आवे, यह नियम नहीं है। मुनित्व किसी हठसे नहीं होता। यह तो लोकोत्तर परमार्थ मार्ग है, अपूर्व साधक-दशाकी भावना है। जितना पुरुषार्थ हो उतना ही कार्य सहज हो जाता है। कोई मानते हैं कि 'बाह्य-त्याग किया इसलिये हम साधु हैं,' किन्तु यह कोई नाटक-अभिनय करना नहीं है। यह तो अपूर्व वीतरागचारित्रकी बात है। राग-द्वेष,

कषायकी तीन चौकड़ियोंके अभाव होनेसे मुनित्व प्रकट होता है और तब सहज ही बाह्यनिमित्त वस्त्रादि छूट जाते हैं यह नियम है। हठसे कुछ भी नहीं होता। भावना करे और तुरन्त ही फल दिखाई पड़े ऐसा कोई नियम नहीं है। किन्तु भावना करनेवालेको पूर्ण विश्वास है कि अब संसारमें एकसे ज्यादा भव नहीं है। ऐसे पवित्र धर्मात्मा द्वारा की गई भावनाका विरोध करनेवाले जीव भी उस समय थे। 'उसकी प्रशंसा करनी हो तो हमारे स्थानकमें मत आवो' ऐसा कहनेवाले भी थे। उस समयकी अपेक्षा वर्तमान काल अच्छा है कि जिससे कई स्थानों पर उनकी (श्रीमद्की) महिमाके गीत गाए जाते हैं। ज्ञान और ज्ञानीकी विराधना करनेवाले जीवोंको सच्चे हितकी बात अच्छी नहीं लगती। जैसे सन्निपातके रोगीको मीठा दूध हानि करता है, वैसे ही संसारमें विपरीत मान्यतावाले परम हितका उपदेश सुनते हुए भी सत्का अनादर करते हैं। वे अपनेको महान समझते हैं और दूसरोंको तुच्छ। विषय-कषाय क्या है, उन्हें कैसे टालें, यह सब कुछ वे समझते नहीं। उन्हें जिनाज्ञाका ज्ञान नहीं है और घर छोड़कर वेषधारी होकर त्यागी बननेका अभिमान करते हैं। वीतरागीकी आज्ञाके नाम पर अनन्तज्ञानीकी और अपनी भी अवज्ञा करते हैं। अवज्ञा कैसे होती है, यह उनके ज्ञानमें नहीं है, उन्हें कौन समझावे ? ऐसे व्यवहारमूढ़ जीव बहुत देखे। श्रीमद्ने आत्मसिद्धिमें कहा है:—

"लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान।
ग्रहे नहि परमार्थने लेवा लौकिक मान॥"

सम्यग्दर्शन क्या है? इसका उन जीवोंको ज्ञान नहीं है और मात्र शुभभावको (मंद कषायको) धर्म मानते हैं, संवर मानते हैं, निर्जरा मानते हैं। दया, दानके शुभ रागको आस्रव न मानते हुए उस रागसे संसारका टूटना, कम होना मानते हैं, किन्तु वास्तवमें शुभ परिणाम पुण्य है, धर्म नहीं है। 'हम व्रतधारी हैं, त्यागी हैं,' ऐसे अभिमान करनेवालेके तो मंद कषाय भी नहीं है, तब संवर, निर्जरा कैसे होगी? नहीं ही होगी। जिसने ज्ञानीको पहचाना है उसे मध्यस्थता एवं आदर सहित उसका (ज्ञानीका) समागम करना चाहिये। उसकी बात पर मध्यस्थतापूर्वक विचार करके मतार्थ, स्वच्छन्द आदि दोषोंको दूर कर अतीन्द्रिय आत्मधर्मका निर्णय करना चाहिये।

"पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता" पांच इन्द्रियोंके विषय, निन्दा-प्रशंसाके शब्द, सुन्दर-असुन्दर रूप, खट्टा-मीठा रस, सुगन्ध-दुर्गन्धरूप गंध, कोमल-कर्कश आदि स्पर्श इन सबमें रागद्वेष नहीं होना चाहिये और विशेषतः उनकी उपेक्षा रखनी चाहिए। जैसे हाथी के मोटे चमड़े पर कंकरीका स्पर्श होते हुए भी उसका कोई लक्ष्य नहीं होता, उसीप्रकार स्वरूप-स्थिरताके रमणमें बाह्य लक्ष्य नहीं होता। ज्ञातास्वरूपके पूर्ण ध्येयके आगे विषय-कषायकी वृत्ति (विकल्प) भी नहीं होती। चाहे उनके अनुकूल-प्रतिकूल पुद्गल-रचनाके विकृत गंध, रस, रूपके ढेरके ढेर पड़े हुए हों, किन्तु उनकी तरफ उनका लक्ष्य भी नहीं होता।

"पंच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो" पांच प्रमाद नहीं हों अर्थात् स्वरूपमें असावधानी न हो। प्रमाद पांच प्रकारके



हैं–विकथा, कषाय, विषय, निद्रा और स्नेह। अपने स्वरूपके महत्वसे जो परिचित है उसे परवस्तुके क्षणिक संयोगकी ममता कैसे हो? जैसे चक्रवर्तीके चौसठ सेरवाले अति मूल्यवान कई हार होते हैं, उसे कोई भील चिरमीका हार भेंट कर जाय, तो उसके (चिरमी के हारके) प्रति ममता नहीं होती, वैसे ही ज्ञानी धर्मात्माको विषय-कषायसे क्षोभ नहीं होता। ज्ञानस्वरूपकी स्थिरताके समय किसी भी प्रकारके संयोग–वियोगमें क्षोभ या अस्थिरता नहीं होती। इसलिए स्वसन्मुख ज्ञातापनेमें ही सावधान रहूँ।

विकथा—आत्माकी धर्मकथा भूलकर पर-कथा पढ़े, ऐसी साधुकी वृत्ति कभी नहीं होती। संसारकी निंदाका रस विकथा है, वह ज्ञानीके नहीं होती। जिसे मोक्षकी पूर्ण पवित्रताका प्रेम है वह संसारके विषय, कषाय, निंद्रा आदि का भाव कैसे करे? नहीं ही करे।

मुनि-अवस्थामें पांच प्रकारके विषयों तथा क्रोध, मान, माया और लोभकी तीन चोकड़ियोंका अभाव होता है। आत्मस्वरूपमें अनुत्साह प्रमाद है। आत्मस्वरूपमें उत्साह अथवा स्वरूपमें सावधानीका नाम अप्रमाद है। ऐसी सर्वोत्कृष्ट साधकदशा (सर्वकाल स्वरूपाचरण) रहे, ऐसी शुद्ध अवस्थाकी एकाग्रता जल्दी हो, ऐसी यहाँ भावना की गई है।

'द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव प्रतिबन्धवण' (१) द्रव्य-प्रतिबन्ध का अभाव :—ज्ञानीको कोई पर-वस्तु बिना न चले, उसमें अटकना पड़े, ऐसा नहीं होता है। ज्ञानी सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता (२) क्षेत्र-प्रतिबन्धका

अभावः—ऐसा नहीं होता कि अमुक क्षेत्रमें जलवायुकी अनुकूलता अच्छी है इसलिए वहाँ ठहरूँ। (३) काल-प्रतिबन्ध रहितताः—शीत ऋतुमें अमुक क्षेत्र मेरे अनुकूल है, गर्मीमें अमुक स्थान पर जाऊँ ऐसा कालका प्रतिबन्ध नहीं होता। (४) भाव-प्रतिबन्ध अभावः—किसी भी प्रकारसे एकान्त पक्षका आग्रह न हो, इस स्थान पर मुझे माननेवाले बहुत हैं अथवा इस स्थान पर अधिक मनुष्य हैं, उनकी भक्ति अच्छी है, इसलिए वहाँ रहूँ या बहुत भक्तिभावसे आग्रह करते हैं इसलिए ठहरूँ ऐसा भाव (इच्छा) नहीं होता। ऐसे चार प्रकारके प्रतिबन्धोंसे रहित अप्रतिबन्ध मोक्षमार्गमें अप्रतिहत भावसे कब विचरूँगा, ऐसी भावना यहाँ की गई है।

"विचरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो" विहार-स्थलोंमें लोभकषायरहित संयम-हेतुसे उदयाधीन, प्रकृतिके योगानुसार विचरना अर्थात् शरीरादिकी क्रिया होती है। उदयाधीन अर्थात् पूर्वप्रकृतिका जब उदय आवे तो उसको विवेकसहित जाने कि यह (कर्मोदय) मेरा कर्तव्य नहीं है और उसमें ममत्व-राग न करे। अपने ज्ञानभावसे प्रकृतिके उदयको जाने और ज्ञानमें ज्ञानरूपसे सावधान रहे, किन्तु उसमें कोई इच्छा, विकल्प या ममत्व नहीं करे। यहाँ अपूर्व वीतराग-दशाके लिये निर्ग्रंथ मुनि अप्रतिहत दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्गमें रहे, आत्मा की ऐसी अपूर्व स्थिरताकी उत्कृष्ट साधकदशा कब आवेगी, ऐसी भावना भायी है।

"सर्व संबंधनुं बन्धन तीक्ष्ण छेदीने"—ज्ञान और कर्म-उदयकी सूक्ष्म संधिको प्रज्ञाद्वारा स्थिरतासे छेदकर अकषायत्व-

के लक्ष्यसे विचरनेकी भावना प्रकट की है और इसलिए कहा है कि "विचरशुं कब महत् पुरुषने पंथ जो" कोई जिनेश्वर महान पुरुष मिले या मुनिवर सत्पुरुषोंका संयोग मिले तो उनके पद-चिन्होंका-मार्गका अनुसरण करूँ, ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? बाह्य और अभ्यन्तर कर्म-कलंक दूर कर आत्मस्वरूपकी स्थिरता करूँ, ऐसी साधकदशाकी यह अपूर्व भावना है ॥६॥

क्रोधप्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता,
मानप्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो ।
मायाप्रत्ये माया साक्षी भावनी
लोभप्रत्ये नहीं लोभ समान जो ॥अ०॥७॥

जैसी रुचि हो वैसी भावना होती है, आत्मा स्वभावतः कषायरूप नहीं है इसलिए चारों कषायोंको छोड़नेका भाव यहाँ बताया है। आत्मा क्रोध, मान, माया और लोभरूप नहीं है, क्रोधादि भूल करना उसका स्वभाव नहीं है, वह भूलरूप होना मानता है किन्तु स्वयं भूलरूप नहीं होता। जैसे क्रोध करनेका भाव हो वैसे क्रोधको रोकनेके लिए उग्र पुरुषार्थरूप भाव करूँ अर्थात् ज्ञानमें स्थिर होऊँ, इसप्रकार ज्ञानस्वभावके प्रति रुचि होनेसे क्रोध रुक जाता है क्योंकि अंतरमें ज्ञानकला द्वारा ज्ञानका धैर्य प्रकट होता है। मक्खीको शक्कर और फिटकरीका विवेक है इसलिये वह शक्कर पर बैठती है और फिटकरी पर नहीं, मक्खीको भी दोनों वस्तुओंके लक्षणोंको जानकर ग्रहण त्यागका विवेक है। उसीप्रकार जीवको भी विवेक करना चाहिए। जड़ वस्तुके लक्षणसे भिन्न

लक्षणवाला मैं राग-द्वेष रहित, पवित्र ज्ञान-आनन्द स्वरूप हूँ। जैसे मक्खी फिटकरीमें खटास जानकर उसे छोड़ती है, उसी प्रकार ज्ञानी विवेक द्वारा स्वपरका लक्षण भिन्न जानकर परभाव-शुभाशुभ भावको छोड़ता है और स्वानुभवमें स्थिर रहता है। आत्माके अनहद निराकुल आनन्द-रसका रसिक, मगजपच्चीमें, क्लेशमें क्यों फँसे? नहीं फँसेगा।

मैं आत्मा हूँ, सत्-चैतन्यमय हूँ, शुभाशुभ रागादि तथा देहादि सर्वाभास रहित साक्षीस्वभाव, प्रत्यक्ष ज्ञाता हूँ, पर-द्रव्य मेरे बाधक नहीं हैं। ऐसे साधकको कभी कुछ क्रोधादि भी हों किन्तु उनसे उसके ज्ञान-श्रद्धानका नाश नहीं होता। यह ऐसी उपेक्षाभावकी भावना है कि मैं उदय भावमें न अटकूं। जैसे सत्ताप्रिय और पुण्यवान मनुष्य हो, वह दूसरेको दबानेकी कला अच्छी तरह जानता हो और पुण्यकी सभी सामग्री इकट्ठी हो तो निर्बल मनुष्योंको तो खड़ा ही न रहने दे, वैसे ही चैतन्यप्रभुमें असीमित सामर्थ्य-ज्ञानबल है, वह पुण्यपापकी वृत्तिको दबाकर दूर कर देता है। साधकको ऐसी स्वसत्ताका वीर्य प्रकट होता है। 'पूर्व प्रकृतिकी वर्तमान स्थिति दिखाई पड़ती है, उसका साक्षी ही हूँ, ज्ञाता ही हूँ, इसलिये क्रोधादिको न होने दूं' ऐसे अकषाय शुद्धस्वरूपमें सावधान रहूँ, ऐसी उत्कृष्ट साधकदशा कब आवेगी, ऐसी भावना बार-बार की गई है।

'मान प्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो' लोकोत्तर विनय और विवेक-सहित दीनता रखना सत्स्वरूपके प्रति बहुमान है; नम्रता है। सच्चे गुरुका दासानुदास हूँ, पूर्णस्वरूपका दास हूँ, इसमें दीनता या गरीबी नहीं है किन्तु पूर्ण केवलज्ञान-

स्वरूप आत्माकी विनय है, जिन व्यक्तियोंमें जो अनन्त गुण प्रकट हो गये हैं उन व्यक्तियोंको देखकर उन गुणोंको अपनेमें प्रकट करनेकी रुचिकी विनय है।

शास्त्रमें कहा है कि क्रोधको उपशमभावसे जीतो, मान को नम्रता द्वारा दूर करो। 'अहो! सर्वज्ञ वीतराग प्रभु! कहाँ आपकी अखण्ड पूर्णस्वरूप आनन्द दशा और कहाँ मेरी अल्पज्ञता: जबतक मुझमें केवलज्ञान प्रगट न हो तब तक मैं अल्पज्ञ हूँ,' इसप्रकार अपने पूर्ण स्वरूपमें स्थिर होनेके लिए अत्यन्त निर्मानता, मृदुता प्रकट की गई है। 'जिसे जिसकी रुचि होती है वह उसका बहुमान करता है,' इस विकल्पके साथ भी पूर्ण अकषायस्वरूप हूँ ऐसा लक्ष्यमें रख कर शुद्धिकी वृद्धिके लिये यह पुरुषार्थ है, ऐसी यह लोकोत्तर विनय है।

चार ज्ञानधारी श्रीगणधरदेव सर्वज्ञप्रभुके पास अपनी पामरता प्रकट करते हैं। संसारमें विपरीतदृष्टिवाले दूसरों के द्वारा लाभ-हानि मानते हैं, पुण्यादिकी पराधीनतामें सुख मानकर अभिमान करते हैं कि हम शरीरसे सुन्दर हैं, आदर-सम्मान एवं क्रमसे बड़े हैं। इन उपाधिभावोंको अपनाकर अनित्य जड़ पदार्थसे अपनेको बलवान समझते हैं। पुण्यादि-जड़की उपाधिसे अपनेको बलवान समझना महा अज्ञानसहित विपरीत दृष्टि है। धर्मात्मा यह मानता है कि उसमें अनन्त गुण हैं, अनन्त सुख हैं, किन्तु अभी पूर्ण पवित्र दशा प्रकट नहीं हुई इसलिए वह निर्दोष देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति करता है। अपने अनन्त गुणोंका बहुमान करते हुए वह विनयसे नत होता है। जो पूर्णताका साधक है उसे पूर्ण पवित्र स्वरूपकी आराधना करने में अल्प भी दोष रखनेकी बुद्धि

नहीं होती। विनयी धर्मात्मा अत्यन्त कोमल सरल परिणाम रखता है, वह निर्दोष स्वभावमें जागृति वाली भावना भाता है कि मुझमें गर्वका एक अंश भी नहीं रहे, ऐसी निर्मानता-वीतराग दशा मुझे कब होगी?

साधकके अन्तरमें पूर्णशुद्ध परमात्मस्वरूपकी प्रतीति रहती है, इसलिए वह जानता है कि वह अभी वर्तमान दशामें अस्थिरतारूप कमजोरीको लिए हुए पामर है अर्थात् वह पूर्णस्वरूपका दासानुदास है। ऐसा विवेक होनेसे वह वीतरागी साधुका बहुमान करता है। उसे परमार्थसे अपने स्वरूपकी भक्ति है। वह पूर्ण स्वभाव अभी प्रकट नहीं हुआ इसलिए अभिमान कैसे कर सकता है? ऐसा जानता हुआ वह स्वरूपकी मर्यादामें रहता है।

जीवकी सिद्ध परमात्म-दशा पूर्णरूपसे निर्मल होनेसे उसके बाद कोई अन्य मर्यादा लांघनेको शेष नहीं रहती है। जीवका सिद्ध स्वभाव अपने आपमें परिपूर्ण है किन्तु साधक दशामें अभी उसके अनन्तवें भाग भी गुणकी शुद्धता प्रकट नहीं हुई तो उसमें वह अभिमान कैसे करे? मुमुक्षु-साधक आत्मा अति सरल, हित-अहित भावको समझनेमें विचक्षण और विनयवान होना है। उसमें पात्रता और लोकोत्तर विनय की महत्ता है। प्रभुका भक्त प्रभु जैसा ही होता है। मैं परमात्माका दासानुदास हूँ, चरणरज हूँ,' ऐसी निर्मानता साधकके होती है। वह अपने गुणों पर लक्ष्य कर स्वभावकी शुद्धता बढ़ाने वाला होनेसे पुण्यादि, देहादिकी गुरुता स्वीकार नहीं करता है। साधक अभूतपूर्व पवित्र निर्मानदशा (मध्यस्थ दशा-वीतराग दशा) की भावना करता है। पहले अनन्त-कालमें शुभरागमें लौकिक सत्य, सरलता, निर्मानत्व आदि

भाव किये हैं, उनका कुछ भी महत्व नहीं; किन्तु आत्माके यथार्थ भानसहित अकषायत्वके लक्ष्यसे कषायादि राग-द्वेषकी अस्थिरताका सर्वथा क्षय करूँ ऐसा अपूर्व अवसर मानता है। जीवने अज्ञानभावमें तो बहुत किया है—बाह्यमें त्यागी होकर ध्यानमें बैठा हो, तब उसके शरीरको जला दे अथवा चमड़ा उतारकर नमक डाल दे तो भी मनमें जरासा भी क्रोध नहीं करे, ऐसी क्षमा अज्ञानभावमें अनेक बार की किन्तु अंतरंगमें मन सम्बन्धी शुभ-परिणामका पक्ष (बन्ध-भाव) बना रहा तब भी ज्ञानभाव युक्त निर्जरा नहीं हुई। आत्माके भान बिना जो सरलता, विनय, निर्मानत्व, शास्त्रोंका पठन आदि हैं वे सब मनकी धारणारूप परभाव हैं। जीव उस बन्धभाव (उदयभाव)को अपना मानकर शुभ-अशुभमें रुचिरूपसे परभावमें लीन रहा है किन्तु आत्माको परसे निराला, निरावलम्बी कैसे रखें, इसकी ज्ञानकला जबतक जीव नहीं जानता तब तक उसका सारा श्रम व्यर्थमें ही जाता है क्योंकि वह अज्ञान तो करे और उसका अपराधसे छुटकारा हो, बचाव हो ऐसा नहीं है।

"मायाप्रत्ये माया साक्षीभावनी"—कपट भावकी तुच्छ वृत्तिके समक्ष नित्य सरल-महिमावंत अखण्ड ज्ञायक साक्षी-भावकी जागृतिरूप निर्दोष विचक्षणता विकसित हो तो गुण द्वारा दोष दूर हों।

कोई कहता है कि संसारमें 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' क्योंकि वैसा किये बिना काम नहीं चलता। स्त्री-पुत्रादिक सब अनुशासनमें रहें इसलिए हमें तो घर व दुनियादारीके लिए कषाय करनी ही पड़ती है, उसको ज्ञानी कहते हैं कि

तुम्हारी यह मान्यता विपरीत है, भ्रम है। पाप करूँ, क्रोध-कपट करूँ तो सब ठीक रहे अर्थात् दोषसे लाभ हो, यह कैसे बने? जो ऐसे विपरीत सिद्धान्तको मान्य करते हैं वे क्रोध, कपटको नहीं छोड़ सकते क्योंकि शठके प्रति शठता करना स्वयं अपराध है। शठके प्रति भी सरलता सज्जनता होनी चाहिये। प्रयोजनवश किसीको सूचना देनेका विकल्प आ जाय, यह अलग बात है किन्तु कषाय करने योग्य है ऐसी मान्यता तो विपरीत ही है। थोड़ा-बहुत क्रोध, मान, माया, लोभ करूँ तो सब ठीक बना रहे ऐसा जो मानता है उसका अर्थ यह हुआ कि अवगुण करूँ, दोष-दम्भ करूँ तो ही अच्छा रहे, व्यवस्था रहे, ये सब विपरीत मान्यता है। दोष करने योग्य माननेसे दोष रखनेकी बुद्धि हुई तो उससे गुण कैसे प्रकटे? इसलिए आत्माका हित करना हो तो यह निर्णय करना चाहिए कि मेरा स्वभाव असीम समता-क्षमारूप है।

संसार देहादि परद्रव्यकी व्यवस्थामें कोई किसीके अधिकारमें नहीं; प्रत्येक वस्तुका कार्य स्वतन्त्र है; कोई वस्तु दूसरेके अधीन नहीं है। किसीके राग-द्वेष करनेसे वह चीज अनुकूल नहीं होती किन्तु पूर्वका पुण्य हो तो अनुकूल दीखती है, किन्तु कोई चीज या कोई आत्मा किसीके आधीन नहीं है।

कोई कहे 'व्यापक प्रेम करनेसे जगत वशमें होता है इसलिए विश्व भरसे प्रेम करना-प्रेमका विस्तार करना चाहिए।' इसका यह अर्थ होता है कि अधिक राग करूँ तो सब मेरे अनुकूल हो जाँय, तब मुझे शांतिकी प्राप्ति हो; किन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि सब स्वतन्त्र हैं। इसलिए पर-द्रव्यसे धर्म और शांति माननेवाले परके आश्रित अपना

समाधान करना चाहते हैं उनके सभी सिद्धान्त झूठे हैं, निर्दोष मोक्षमार्गमें तो परसंयोगकी अपेक्षा रहित, रागद्वेष-विषय-कषाय रहित, त्रिकाली ज्ञायक हूँ; परसे भिन्न पूर्ण पवित्र ज्ञानमय हूँ, रागादिरूप नहीं हूँ, शरीरादिकी क्रिया नहीं कर सकता, पुण्यादि पर चीजकी सहायताकी दीनता, अपेक्षावाला नहीं हूँ, अकेला पूर्ण ज्ञान-आनन्दस्वभावी हूँ, ऐसी पवित्र दशा प्रकट करनेका स्वलक्ष्यकी स्थिरतारूप पुरुषार्थ अपनेसे ही होता है, उसमें परवस्तुकी आवश्यकता हो, ऐसी पराधीनता नहीं है क्योंकि प्रत्येक आत्माका ज्ञान-स्वभाव सदैव ही स्वतन्त्र है, पूर्ण स्थिरतामें न रह सके तब निर्दोष देव-गुरु-शास्त्र तथा वीतराग धर्मके प्रति विनय-भक्तिरूप झुकाव रहता है। वहाँ भी वीतरागताकी रुचिकी लगन है। उसमें थोड़ा भी रागद्वेष आदरणीय नहीं है तो फिर परका करूँ, न करूँ, ऐसी बात कैसे हो? क्योंकि कोई आत्मा परका कुछ नहीं कर सकता, इसलिए जिन्हें अपने हितरूप सम्यक्मार्ग अपनाना है, स्वाधीन ज्ञातापनमें स्थित रहकर, अपना सच्चा हित करना है, उन्हें अपने निर्दोष ज्ञानस्वभाव द्वारा समझना चाहिये कि मिथ्या-अभिप्राय आदि दोषसे गुण प्रकट नहीं होता, इसलिए त्रिकाली वस्तु-स्वरूपको सर्वज्ञ वीतराग कथित नय-प्रमाण द्वारा समझना चाहिये।

आत्मा सदैव ज्ञान-आनन्दस्वरूप निर्दोष साक्षी है। मैं ज्ञाता हूँ, पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, ऐसी श्रद्धा, उस स्वाधीन पूर्ण स्वरूपका ज्ञान और उसका ही आचरण हो वहाँ थोड़ासा भी क्रोध, मान, माया, लोभ आदरणीय नहीं होते। वर्तमान पुरुषार्थकी कमजोरीसे अल्पकषायकी अस्थिरता हो यह भिन्न

बात है किन्तु हम गृहस्थी हैं इसलिए हमें थोड़ा रागद्वेष भी करना चाहिये तो ही सब ठीक रहे, यह अभिप्राय मिथ्या है क्योंकि पूर्वपुण्य बिना बाह्यकी अनुकूलता नहीं मिलती। वास्तवमें बाह्यकी अनुकूलता है, ऐसा कहना कल्पना मात्र है। मैं घर, संसार, देहादिको ऐसे ही ठीक रख सकता हूँ, सबको वशमें रख सकता हूँ, पर मुझे सहायक हैं, मैं दूसरेकी सहायता कर सकता हूँ-यह मान्यता अज्ञान है, मिथ्यादर्शन-शल्य है।

प्राचीनकालमें किसी महान् राज्यका स्वामी एक परदेशी नामका राजा था, किन्तु एक समय ऐसा हुआ कि उसकी रानीने ही उसे जहर दे दिया, ऐसा जानकर भी उसने अपनी स्त्री पर क्रोध नहीं किया और जाना कि इस शरीरका अन्त इसी प्रकारसे होना था। मैं किसी परवस्तुका स्वामी नहीं हूँ, स्त्रीको मेरे शरीरसे लाभ न हुआ माना इससे उसने द्वेषरूप यह कार्य किया। मैं अपना ज्ञानरूप कार्य करूँ; जहर खिलाया यह भी ज्ञान लिया। मैं तो असंयोगी ज्ञाता ही हूँ ऐसा विचार करते करते राजाने अपने बेहद ज्ञाता पवित्र स्वभावकी महिमामें स्थिर होकर महापवित्र समाधिदशामें ज्ञानभावमें देह छोड़ी, किन्तु अपनी राज्यसत्ताका उपयोग नहीं किया। यह उसकी भूल नहीं थी किन्तु ज्ञानीकी विचक्षणता थी, विवेक था। कोई कहे कि मैं पर चीजमें विवेकसे काम कर सकता हूँ, किन्तु कोईका किसी द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता। जीव ज्ञानमें स्वको भूलकर मात्र रागद्वेष व कर्ता–भोक्ताका भाव कर सकता है। प्रत्येक आत्मा अपने अनन्त गुणोंयुक्त अनन्त सामर्थ्ययुक्त है। तीनकाल और तीनलोकमें कोई भी परकी क्रिया करनेको समर्थ नहीं है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी कार्य नहीं कर सकता। निमित्तरूपसे कर्त्ता हूँ ऐसा मानना भी अज्ञान है क्योंकि परको दबानेका कषायभाव करे तो भी परसे लाभ-हानि नहीं हो सकते किन्तु अपने त्रैकालिक स्वभावके लक्ष्यमें ज्ञान-स्वभावकी जागृति और शांतिरूप रहे तो निर्मलता प्रकट हो। कोई वस्तु पराधीन नहीं है। प्रत्येक पदार्थ सर्वथा स्वतन्त्र है, भिन्न भिन्न है। अनादि और अनन्तरूपसे अपने आपमें परिपूर्ण है मात्र स्वभावका लक्ष्य करके अनादिकालीन विपरीत अभिप्राय (खोटी मान्यता) दूर करनेकी प्रथम आवश्यकता है।

सच्चा ज्ञानी अन्तरंगसे समाधान करता है और अज्ञानी परमें इष्ट-अनिष्ट कल्पना करता है। कुटुम्बमें किसीकी भूल हो जाय तो विवेकसे समाधान करना चाहिये। पतिमें भूल हो तो स्त्री उपेक्षा करती है, सहन करती है, कभी स्त्री भूल करे तो उसका पति जरा भी सहन न करे यह न्याय नहीं है। लौकिक नीति-व्यवहारमें सज्जनताका दावा करनेवाला अपने मान्य सिद्धान्तोंके लिये बहुत कुछ सहन करता है और इस नीतिके लिए अन्य सबकी उपेक्षा करता है। इसी-प्रकार आत्मधर्ममें व्यावहारिक सज्जनता तो होनी ही चाहिए। अखिल संसारकी क्या स्थिति है, जो यह विवेकसे तथा समझपूर्वक धैर्यसे जानता है वह अन्यको दोष दुःख देनेका भाव नहीं करता।

प्रश्नः—आपकी बात सच्ची है किन्तु घर-संसारमें रह कर ऐसा होना असम्भव है।

उत्तरः—पर संयोग किसीका लाभ या नुकसान नहीं करा सकते, अज्ञानसे मानो भले ही। जिसे ऐसा अभिमान है कि

यदि हम क्रोधादि कषाय न करें तो काम नहीं चले, मान, इज्जत, अनुकूलता नहीं मिले, लोकमें निर्बल कहलायें, किन्तु उसके ऐसे अभिप्रायानुसार परमें कुछ नहीं होता इसलिये ऐसी मान्यता खोटी है।

१. जिन्होंने तीव्र क्रोध, मान, माया लोभमें चैतन्यवीर्यको संलग्न कर दिया है, परको दबाया और अनीतिपूर्ण अभद्र आचरण किये हैं वे भयंकर नरकगतिमें नपुंसक हुये हैं। नपुंसक जीवको स्त्री-पुरुष दोनोंके कामभोगकी अनन्ती तीव्र आकुलता होती है।

२. जो क्रोध, मान, लोभमें थोड़े लगे और जिन्होंने कपट अधिक किया वे तिर्यंच-पशु हुये।

३. जो मन्दकषायके मध्यम भावमें रहे वे मनुष्य हुये।

४. जो शुभ भावमें बढ़े वे देव हुये।

५. जिन्होंने स्वरूपकी स्थिरता द्वारा कषायमें अपना उपयोग सर्वथा नहीं लगाया वे वीतरागी सिद्ध-परमात्मा हुये।

'सब जीव सिद्ध समान हैं' ऐसा जो समझता है वह सिद्ध होता है। सिद्ध परमात्माके समान पूर्ण पवित्र शक्ति प्रत्येक आत्मामें निहित है, जो इसे समझे वह वैसा हो सकता है। किन्तु असीम ज्ञानको, समतास्वरूपकी पवित्र शांतिको भूलकर क्रोध, मान, माया, लोभरूप विषय-वासनामें लीन होना परवस्तुमें इष्टबुद्धि करना महापाप है, स्वाधीन, स्वरूपकी अनन्ती हिंसा है। क्रोधादि तुच्छ भावोंको धारण करनेमें अपनी हीनता, नपुंसकता है। इसलिए सर्व प्रथम

आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानकर परसे इष्ट-अनिष्ट मानना व परमें कर्त्तृत्व व भोक्तृत्व माननेका अभिप्राय बदल कर, ऐसा निर्णय करे कि मेरे नित्य ज्ञानस्वभावमें जरा भी क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं है, क्लेश नहीं है इसलिए ये करने योग्य नहीं है। हित-अहितरूप परिणाम तो अपना ही भाव होनेसे उसे पहचान कर अपने वशमें रख सकता है। किन्तु परका कुछ नहीं कर सकता, ऐसे विवेक स्वभावसे निश्चित होनेसे यह निश्चित हुआ कि क्रोधादि दोष द्वारा स्त्री-पुत्र आदि ठीक रहें और वशमें रहें, ऐसा मानना झूठा ही है। इसलिए त्रिकालीस्वरूप में समझदार दृष्टि रखकर अवगुण (दोष) करनेका लक्ष्य स्वप्नमें भी नहीं करना चाहिये। जरा भी क्रोधादि कषाय मेरे नित्य तत्त्वमें नहीं है इसलिए इन्हें न होने दूं-स्वसन्मुख ज्ञाता ही रहूँ ऐसी भावना निरन्तर रखनी चाहिए। अर्थात् स्वसन्मुख ज्ञातापना और उसमें धीरज रखनेका विशेष पुरुषार्थ करना वह अपने अधिकारमें है।

'माया प्रत्ये माया साक्षी भावनी" जैसे ज्ञानस्वभावकी जागृति छिपाकर दूसरेसे कपटभाव किया करता था वैसी प्रवृत्ति छोड़कर मैं अखण्ड ज्ञानस्वभावकी जागृति इस प्रकार रखूं कि किसी प्रकारका कपट अंश आवे तो उससे भिन्न रहूँ, निर्दोष साक्षीभावको ज्ञानदृष्टि द्वारा जान लूँ। स्वभावकी जागृतिमें अंशमात्र भी कपट नहीं आने दूं, पवित्र सरल स्वभावकी दृष्टि और महिमा द्वारा माया (कुटिल) भावको जीत लूं ऐसी मेरी भावना है।

'लोभ प्रत्ये नहि लोभ समान जो' जैसे लोभमें 'लोभ करने योग्य है,' ऐसा ममत्त्वभाव था, अब मैं इस लोभके प्रति अंशमात्र भी लोभ नहीं रखूं किन्तु निर्लोभतारूप अकषायी

सन्तोषभावसे आत्मामें स्थिर रहूँ, परम शांतिमय मेरे आत्मामें तृप्त रहूँ। मैं अनन्त ज्ञान-शांति स्वभावी हूँ। ज्ञानस्वभावमें स्थिरता द्वारा निर्मलता प्रकट होनेसे त्रिकाल और त्रिलोकका ज्ञान प्राप्त होता है, उस पूर्ण आनन्दस्वभावको भूलकर पर संयोगमें सुखबुद्धि मानकर विपरीत हुआ, इससे तीन काल और तीनलोकके परिग्रहकी तृष्णा बढ़ती जाती है किन्तु उस तृष्णाका पेट कभी भरा हो, ऐसा नहीं होता। अज्ञान-भावमें अनन्ती तृष्णा द्वारा जैसे लोभ करनेमें असीमता थी वैसे ही मैं ज्ञानस्वभावमें दृढ़ होनेसे बेहद संतोषस्वरूप पूर्ण शुद्धताके ज्ञान द्वारा अनन्त ज्ञान एवं संतोष रख सकता हूँ। संसारकी वासनाको दूर कर मैं पुण्य-पापरहित पूर्ण शुद्ध पवित्रतामें ठहरूँ और नित्य स्वभावका संतोष प्राप्त करूँ ऐसी यह भावना है।

पूर्ण पवित्र सिद्धपद अपनेमें शक्तिरूपमें है, उसकी प्राप्तिके लोभका विकल्प छठे गुणस्थान तक होता है किन्तु दृष्टिमें पूर्णका आदर होनेसे शुभ विकल्पका भी नकार है और भविष्यमें 'प्रभुकी आज्ञासे उसी स्वरूपमें होऊँगा' इसका वर्तमानमें संतोष है, अर्थात् संसारके पुण्यादि परमाणुओंकी इच्छा नहीं है किन्तु मोक्षकी इच्छाका विकल्प छूटकर स्वरूपकी स्थिरताकी अपूर्व प्राप्ति कब होगी? ऐसी यहाँ भावना की गई है।

बहु उपसर्गकर्त्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वंदे चक्री तथापि न मळे मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो ॥ अ०। ८ ॥

'अपूर्व अवसर'की भावनामें ऐसी रुचिका चिन्तन है कि

उत्कृष्ट साधकदशा प्रकट हो और शुभाशुभ भावोंका क्षय करूं कि जिससे पुनः बन्धनमें न फंसूं। प्रथम श्रद्धामें अबन्धदशा द्वारा मिथ्यात्वरूपी विकल्पको दूर किया, अब अपने शुद्धदशारूप पुरुषार्थको उग्र करके सर्व कर्म-उदयकी सूक्ष्म संधिको पुरुषार्थ द्वारा तोड़ दूं, ऐसी साधक दशा कब आवेगी –ऐसी भावना यहाँ की गई है। अत्यधिक उपसर्ग करनेवालेके प्रति भी लेशमात्र क्रोध न हो, ऐसी यह भावना है। क्रोधादि कषाय करनेका अभिप्राय नहीं है किन्तु स्वरूपस्थिरताकी दृढ़ताका–उग्रताका पुरुषार्थ करूँ ऐसी भावना है।

स्वयं निरपराधी होते हुए भी किसी देव, मनुष्य, तिर्यंच अथवा अचेतन प्रकृति कृत घोर उपसर्गजनित असाताका उदय हो तो भी उसके प्रति लेशमात्र भी क्रोध नहीं करूँ क्योंकि पहले असाता वेदनीयादि अनेक कर्म बांधे हैं, वे अपनी स्थिति अनुसार फल देकर निर्जराको प्राप्त होते हैं, वे अस्थायी हैं, उनसे ज्ञानगुणको कोई हानि नहीं होती। कोई यह माने कि मैंने बहुत सहन किया, तो उसकी यह मान्यता झूंठी है क्योंकि ज्ञानका स्वभाव असीमरूपसे जानना है। जिसे केवलज्ञान प्रकट हो वहाँ सब अनन्तको सहज ही जाना जाता है। उस दशाके बिना 'मैंने बहुत जान लिया, सहन किया' ऐसा मानना भूल है। कोई कहे कि कोई मुझे गाली दे, मेरी निन्दा करे तो कितनी बार सहन करूँ? सहन करनेकी कोई सीमा तो होनी चाहिए? किन्तु ऐसा नहीं है। सहन करना अर्थात् सम्यग्ज्ञानके कार्यको विवेकरूप जान लेना है। अनन्ती प्रतिकूलताके संयोग दिखाई पड़ते हुए भी ज्ञान रुकनेके स्वभाववाला नहीं है, जाननेमें दोष या दुःख नहीं है। जो जैसा है वैसा जानना वो गुण है

उसमें अनन्ती समता है। आत्मा सदैव ही बेहद ज्ञान समताका समुद्र है, पर चीजको जानता हूँ ऐसा कहना व्यवहार मात्र है, वास्तवमें स्वयं अपने ज्ञानकी स्वच्छताको अपनेमें जानता है देखता है, पर वस्तु किसीको बिगाड़नेवाली या सुधारनेवाली नहीं है।

आत्मा स्वाधीन ज्ञानस्वरूप है। वह रागादि या देहादि परवस्तुरूप तीनकालमें भी नहीं है। एक द्रव्यमें परद्रव्यका कारण-कार्यभाव, पराधीनता या परका सहायकत्व तीनलोक और तीनकालमें नहीं है। घासके एक तिनकेके दो टुकडे करने की ताकत किसी आत्मामें नहीं है, फिर भी कोई ऐसा माने कि आत्मामें ऐसी ताकत है तो उसकी मान्यता झूठी है, उसे स्वतन्त्र ज्ञानस्वभावी आत्माका तथा पुद्गलकी स्वतन्त्रताका भान नहीं है।

जिनकी निमित्त पर दृष्टि है, उन्होंने रागको करने योग्य माना है। मुझे परसे लाभ-हानि है ऐसा जो मानता है उसने अनन्त परके साथ अनन्त रागद्वेषको करनेयोग्य माना है। उनकी विपरीत मान्यतामें तीनों काल रागद्वेष करने योग्य हैं ऐसा आया, किन्तु ज्ञानमें स्वलक्ष्यसे ज्ञानका समाधान करना चाहिए ऐसा उन्होंने स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने सर्वज्ञ वीतरागके न्यायसे यथार्थ ज्ञानस्वभावको जानकर अनादि-अनन्त एकरूप, परसे भिन्नरूप जाननेवाला मैं हूँ ऐसे बेहद, अपरिमित ज्ञान, समता-स्वरूपकी प्रतीति की उनका ज्ञानस्वभावका धैर्य किसी प्रकार नहीं छूट सकता। इसलिये गृहस्थ दशामें भी अखण्ड ज्ञानस्वभावकी प्रतीतिमें बेहद समता सहज ही आती है।

ज्ञान तो गुण है, गुणसे दोषकी उत्पत्ति संभव नहीं है।

जिन्होंने ज्ञानको अपना स्वरूप स्वीकार किया उन्होंने उसको परसे प्रतिरुद्ध होना नहीं माना। ज्ञानमें जो जैसा है उसे वैसा जान लेना तो गुण है, ज्ञानका कार्य तो जानना मात्र है, रागका कार्य पर वस्तुमें इष्ट-अनिष्ट कल्पना कर सकना है। ज्ञान तो प्रत्येक आत्माका स्वतन्त्र अखण्ड स्वभाव है, वह किसी भी कालमें जाननेसे समाप्त हो या अटक जाय ऐसा नहीं है।

जिन्हें पर वस्तुमें तीव्र स्नेह है उन्हें तृष्णा और मोह-रहित ज्ञानस्वभावी आत्माकी पहचान नहीं है। अमुक मोह दूर किए बिना धर्मके समीप आना नहीं होता। खर्च करनेसे पैसा नष्ट नहीं होता, यह न्यायका सिद्धान्त है। मध्यस्थ भावसे यथार्थरूपसे प्राकृतिक नियम समझना चाहिए कि दान देनेसे धन नहीं नष्ट होता, किन्तु पुण्य नष्ट होनेसे धन नष्ट होता है। निर्लोभी अकषायी पवित्र आत्मस्वरूप की पह-चान होनेके पश्चात् शुद्धात्माका लक्ष्य निरालम्बी ज्ञान-भाव ही रहता है, अतः सर्वप्रथम संसारके प्रति अशुभ राग छूट जानेके पश्चात् सच्चे धर्मकी प्रभावनाके लिये लोभ कषायका त्याग होता है। सच्चे धर्मकी साधना करनेवाले मुनिगण स्थिर रहें, मेरा वीतरागभाव बढ़ जाय ऐसी भावनावाले गृहस्थके अशुभसे बचनेके लिये दानादि क्रिया हुए बिना नहीं रहती। यहां परकी क्रियाके साथ सम्बन्ध नहीं है किन्तु गुणकी रुचिमें राग सर्वथा दूर नहीं हुआ, इसलिये जो राग रहा उसकी दिशा वह गृहस्थ बदलता है, शुभ रागको (धर्ममें) सहायक नहीं मानता। परसे सर्वथा भिन्न निवृत्तिस्वरूप ज्ञानस्वरूप मैं हूँ ऐसी स्वाधीन तत्वकी रुचि रागका नाश करने वाली है, इसलिए ब्रह्मचर्य, सत्य आदि सद्‌गुणोंको

रुचि हुए बिना नहीं रहती। स्वरूपकी सच्ची पहिचान होते ही तुरन्त त्यागी हो जाय ऐसा नियम नहीं है। जिसे स्वरूपकी सच्ची पहचान होजाय उसके व्यवहार-नीति और पारमार्थिक सत्य प्रकटे बिना नहीं रहता। जहां पारमार्थिक सत्य है वहाँ व्यवहारमें सत्य वचनादि होते ही हैं। जिसने सत्यका भान किया है उसे असत्-खोटी समझका अंश भी नहीं रहता, यह अटल नियम है।

'वीर्य (पुरुषार्थ-बल) रुचिका अनुयायी है।' जिसमें जिसका प्रेम होता है वह उस इष्टकी प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ करता ही है; जिसमें जिसकी रुचि होती है उसके लिए वह मर-पचकर भी प्राप्तिका प्रयत्न करता ही है, ऐसा नियम है। यदि कोई पराधीनताका दुःख देखे तो वह दोष-दुःखरहित अकेला है ऐसा विचार करे और अन्य सबकी उपेक्षा कर छूटनेका उपाय करे। जैसे कीडा या लट, पत्थरके नीचे दबा हुआ भी, जीनेके लोभसे शरीर पर बहुत वजन होते हुए भी देहके टुकडे हो जायें ऐसा जोर करते हुए बाहर निकलता है; मकोड़ा जब किसीके चिपट जाता है तो भले ही आधा शरीर टूट जाय किन्तु छोड़ता नहीं ऐसे ही प्रत्येक जीव अपने संकलित कार्य को करता हुआ दिखता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि समझके अनुसार रुचि, और रुचि अनुसार पुरुषार्थ होता है। जिसे जिसप्रकारका अज्ञान दृढ़ हो जाय व इष्ट मान ले वह उसकी प्राप्तिके लिये पूर्ण पुरुषार्थ करता ही है, उसके लिये अपने शरीरकी भी परवाह नहीं करता। (पर वस्तुको कोई प्राप्त नहीं कर सकता, कल्पनासे प्राप्त की हुई भले ही मान ले) लौकिक कहावत है कि देहका नाश हो तो हो जाय किन्तु इष्ट प्रयोजनकी प्राप्ति करके ही रहेंगे।

उसीप्रकार अनन्तकालकी पराधीनता, राग-द्वेष-अज्ञान भावसे छूटनेका उपाय जिन्होंने अपने ज्ञानस्वभाव द्वारा जान लिया उन्हें उसकी रुचि क्यों नहीं होगी? मैं सदैव अपने ज्ञानादि अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ, रागादि पुण्य, पाप, पर उपाधि शुभाशुभ और देहादि मेरेमें नहीं हैं, मैं सदा परसे भिन्न ही हूँ ऐसा जिसने जान लिया है वह यथार्थ स्वरूपकी निःशंक श्रद्धामें ज्ञानबल द्वारा स्वाधीन स्वरूपकी एकाग्रतासे पूर्ण सिद्धपद प्राप्त करने के लिये स्वरूप-रसमें लीन हो तो कैसे डिगेगा? नहीं डिग सकता। भले ही शरीर छूट जाय, किन्तु इस पूर्णस्वभावकी शुद्धताकी संधि और शुक्लध्यानकी श्रेणी न छूटे ऐसा यह अपूर्व अवसर (अव=निश्चय, सर=श्रेयोमार्ग) मेरे लिये कब आएगा, ऐसी यह भावना की गई है।

'मैं परसे भिन्न, त्रिकाली ज्ञानस्वभावरूप हूँ, किसीके द्वारा रुकनेवाला नहीं, पररूप नहीं, रागादिरूप नहीं। दूसरेकी तरफ झुकावका अशुद्ध भाव तो एक समयकी अवस्था जितना ही है। मैं नित्य टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एकरूप हूँ, किसी निमित्तकी अपेक्षावाला नहीं हूँ,' ऐसा समझने वाला प्रत्येक आत्मा पूर्ण स्वतंत्र भगवान है। सर्वज्ञ भगवानके शासनमें सम्पूर्ण जगतका न्याय निहित है, तटस्थतापूर्वक स्वतन्त्र स्वभावसे विचार करने पर सर्वज्ञके उक्त न्यायके अनुसार सारा ज्ञान आत्मामें है। श्रीमद्‌ने भी यही कहा है:—

"बहु उपसर्ग-कर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहिं"—'बहु' शब्द उपसर्गकी असीमता सूचित करता है। बहु उपसर्गके समक्ष भी

'बहु क्षमा' स्वभाव जाग्रत है। क्षमा अर्थात् स्वभावसे परिपूर्ण ज्ञानदृष्टि में किसीके दोष दिखाई नहीं पड़ते, क्योंकि कोई वस्तु दोषरूप नहीं है। भले ही घोर प्रतिकूलताका प्रसंग ज्ञानकी स्वच्छतामें जाना जाय, किन्तु उससे ज्ञानीको बाधा नहीं होती। अशुभ कर्मके संयोगमें ज्ञानी जानता है कि विपरीत पुरुषार्थ द्वारा विकारी पर्याय पहले अपनाई थी उसी भूलका फल यह-अशुभ कर्मका संयोग-वर्तमानमें दिखाई दे रहा है, किन्तु अब मैं त्रिकाली अखंड ज्ञानस्वभावका स्वामी होनेसे भूलरूप परिणमन नहीं करता किन्तु निर्दोष ज्ञाताभावरूप होनेसे भूलरहित स्वभावके भानमें स्थिर होकर भूतकालीन अवस्था और निमित्तका ज्ञान मात्र करता हूँ।

ज्ञानी जिन संयोगोंको देखता है उनमें हर्ष-शोक नहीं करता। निर्दोष ज्ञानस्वभावका लक्ष्य रख कर भी ज्ञानी अल्प राग-द्वेषमें लग जाता है किन्तु उसकी मुख्यता नहीं है; मैं त्रिकाली ज्ञानस्वभावी हूँ इसकी मुख्यता है। ऐसा विचारकर निःशंकस्वभावमें सच्चा अभिप्राय लाओ कि मैं राग, द्वेष, मोहरूप नहीं हू क्योंकि वे मेरे स्वभाव नहीं हैं, इसलिये कषाय अंशमात्र भी करने योग्य नहीं है, राग-द्वेष न होने देऊँ अर्थात् जाग्रत ज्ञानस्वभावकी बेहदतामें स्थिर रहूँ।-ऐसा अभिप्राय जाग्रत रखना ही ज्ञानकी क्रिया है। अल्प रागका अंश अभी होता है यह अलग बात है किन्तु मुझे राग-द्वेष करने पड़ते हैं ऐसा माननेमें तो बहुत अहित है। मैं दूसरोंको समझा दूँ, मेरे द्वारा दूसरे समझते हैं, मेरी सलाहसे सब भली प्रकारसे रहते हैं, इस प्रकार परकी व्यवस्थाका कर्तृत्व एवं ममत्व रखूँ ऐसी मान्यता महापाप है।

परका कुछ भी कार्य कर सकूँ यह विपरीत अभिप्राय है और उस अभिप्रायमें अनन्ती आसक्ति है इसलिए सर्वप्रथम इस अभिप्रायको बदलना चाहिए।

मैं सदा ही परसे भिन्न ज्ञानानन्द स्वरूपी हूँ, ज्ञान सिवा कुछ भी नहीं कर सकता। मैं पराश्रयमें लगनेवाले भावको नित्य स्वभावकी भावना द्वारा दूर करनेवाला हूँ, 'पर' मुझे सहायक नहीं हो सकता। मेरा कर्त्तव्य तो यह है कि राग रहित, परावलम्बन रहित ज्ञान करूँ। मैं पूर्ण पवित्र ज्ञान मात्र हूं-ऐसे अभिप्रायको मैं निरन्तर बना रखूं और स्वरूपकी दृढ़ता बढ़े यही हितकर है।

भले ही किसीको प्रसंगवश सलाह-सूचना देनेका विकल्प आवे, किन्तु उसमें किसी प्रकारका आग्रह ममत्व न होना चाहिये। मेरी बातसे कोई सुधरे या बिगड़े इसका कर्तृत्व-ममत्व छोड़ देता हूं। तत्पश्चात् वह सुधरे या न सुधरे यह उसके भावों पर निर्भर है, मैं किसीको कुछ कर नहीं देता। मैं तीनों कालमें ज्ञान ही करता हूँ ऐसा माननेसे राग-द्वेष होनेका अवकाश नहीं रहता, सुधरना तो उसे स्वयंको है। त्रिकाली द्रव्यस्वभावमें कुछ बिगाड़ नहीं होता। वर्तमान एक समयकी अवस्थामें पराश्रय कर जीव नये राग-द्वेष करता है यह उसकी भूल है। इस भूलको वह नित्य ज्ञानस्वभावके लक्ष्य और स्थिरता द्वारा दूर कर सकता है। इसलिये समाधान स्वयं का ही करना है, परसे कुछ भी नहीं है। इसीमें अनेक प्रश्नोंका समाधान हो जाता है। मैं दूसरेको शीघ्र समझा दूँ, परकी व्यवस्था रख सकता हूँ-ऐसी मान्यतायें सब मिथ्या हैं। जिसने अपने आपको सुधार लिया उसका सारा जगत सुधर गया, जिसने स्वाधीन स्वरूपमें निजात्माको

अविरोध रूपसे जान लिया उसके कोई विघ्न नहीं है। चाहे अनुकूल या प्रतिकूल बहुत उपसर्ग आवें उनमें ज्ञानको क्या? उपसर्ग चार प्रकारके हैं—देव, मनुष्य, पशु और अचेतन कृत। उनमें किसीके प्रति भी क्रोध नहीं आवे ऐसी भावना है।

कोई माने कि मैं अपने भाई, मित्र, पुत्र, समाज आदिका इतना उपकारी रहा हूँ किन्तु वे फिर भी मेरी निन्दा आदि द्वारा प्रतिकूलता उपस्थित कर मुझे हैरान कर देते हैं, ऐसा मानना भी मिथ्या भ्रम है। ये सब संयोगमें पूर्वकर्म निमित्त हैं, तू उनमें अपने इष्ट-अनिष्टरूप होनेकी कल्पना करता है। निमित्त आत्मामें नहीं है, तुझे दूसरा जबरदस्तीसे बिगाड़ नहीं सकता।

कोई भी परवस्तु दूसरेको राग, द्वेष, क्रोधादि नहीं करा देती। आत्मा अरूपी, ज्ञानघन, ज्ञानपिंड है, उसमें राग-द्वेष उपाधिका अंश नहीं है, तब परवस्तुके प्रति क्षोभ किसलिए करना चाहिए? जो वस्तु पर है वह सर्वथा भिन्न अपने स्वभावमें स्थित है। ऐसे स्वतन्त्र वस्तुस्वभावको कोई भिन्न जान ले तो उसे ज्ञात होगा कि मेरेमें न क्रोध है, न द्वेष है, न हठ है, न उपाधि है।

आत्मा ज्ञाता, साक्षी है, उसमें अरूपी ज्ञानमें प्रीति या अप्रीति आदि विकल्पोंका अंश भी नहीं है। परवस्तु किसीके लिए इष्ट-अनिष्ट नहीं है, लौकिक जन परवस्तुसे इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःखकी कल्पना कर लेते हैं और अपनेको राग वाला मानते हैं। किन्तु यदि आत्मा रागादिरूप हो तो राग दूर नहीं किया जा सकता। जीव परके कारणसे अपनेको सुखी-दुखी मानता है यह भी वास्तविक नहीं है। यदि जीवको

परसे दुःख होता हो तो जीव कभी क्षमा नहीं रख सकता, किन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा चाहे तो किसी भी प्रतिकूल संयोगों, प्रसंगोमें क्षमा, समता, शान्ति रख सकता है, उसमें कोई भी बाधा नहीं दे सकता। निमित्त चाहे जैसा मिले किन्तु उनमेंसे सुलटा अर्थ कर सकते हैं।

पवित्र ज्ञानीकी भी कभी निन्दा नहीं होती है, उसकी निन्दा करनेवाले पुस्तकें भी लिखते हैं, किन्तु उनसे आत्माको क्या? कौन किसकी निन्दा करता है?

प्रत्येक अक्षर अनन्त परमाणुओंसे बना हुआ है, वाणी तो परमाणुओंकी अवस्था है। वे निन्दाके शब्द तो तुमको यह कहते नहीं कि तुम द्वेष करो, किन्तु अज्ञानी अपनी विपरीत मान्यता द्वारा 'मेरी निन्दा करता है' ऐसा मानकर अपने भावमें द्वेष करता है। किन्तु ज्ञानीको राग-द्वेष करनेका भाव नहीं होता, तो फिर अन्य कौन करा सकता है? ज्ञानी परवस्तु द्वारा राग-द्वेष-मोह होना नहीं मानता अपनी निर्बलतासे अल्प राग-द्वेष होता है यह गौण बात है।

ज्ञानी जानता है कि निंदात्मक शब्दोंके जड़ रजकण पुस्तक रूप होनेवाले हों तो उनको कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती। ऐसा जाननेवालेके चाहे कितने ही परिषह आवो, तब वह क्षमा रखता है। और 'ज्ञाता रहूँ' यही मेरा सहज स्वरूप है, समतास्वरूपकी स्थिरता बढ़ानेकी उत्तम कसौटीका यह समय है, सामनेवाले जीव मुझे दुःख देनेमें निमित्त होते हैं, ऐसा विचारकर वह उनसे द्वेष न करे किन्तु उनकी अज्ञान दशा देखकर करुणा करता है, किन्तु किसीके प्रति द्वेष या क्रोध नहीं करता वह ऐसी समता रखता है।

जीव जबतक परवस्तुमें कर्त्तृत्व–ममत्व मानता है और परसे भिन्नत्व नहीं समझता तबतक वह उसमें कर्त्तापनेका अभिमान और राग-द्वेष करता है तथा परका कर्त्ता-भोक्ता हूँ ऐसी कल्पना करता है। अन्य किसीको इच्छानुकुल परिणमित कराना चाहे तो परसम्बन्धी विचारा हुआ यथेच्छ कभी होता नहीं और विपरीत मान्यतासे राग-द्वेष दूर नहीं होता। इसलिए सर्व-प्रथम निज-पर स्वरूपको जानो, उसका अभ्यास, अध्ययन, श्रवण, मनन करो। सच्ची समझ बिना मिथ्या खतौनी–विपरीत मान्यता है। लोग ऐसा सोचते हैं कि यह मेरा लड़का है, मेरा भाई है, सीमासे बाहर ऐसा अहित यह कैसे कर सकता है? किन्तु भाई ! संसारका ऐसा ही नियम है। यह कोई नवीन बात नहीं है और अपना दुःख हटानेका सच्चा उपाय एकमात्र आत्मज्ञान है। लोकमें बाहरी वस्तुको इष्ट मानकर उसे स्थिर रखनेके लिए यह जीव कितना उत्कृष्ट (ज्यादा) सावधान रहता है, तो फिर जिसे सच्चे हित (आत्मस्वरूप)की प्राप्ति हुई वह उस सच्चे हितमें किसी भी प्रकारका विघ्न कैसे आने देगा? नहीं ही आने देगा।

अकषायदृष्टि द्वारा कषाय दूर करनेकी यह भावना है। चाहे-जितने प्रतिकूल प्रसंग उपस्थित हों किन्तु उनके उपस्थित करनेवालोंके प्रति क्रोध नहीं आता, मैं तो अपने क्षमा-स्वभावरूप हूँ। बाह्य निमित्तोंको दूर करना नहीं है क्योंकि दूर करनेसे वे दूर नहीं होते, किन्तु उनके सम्बन्धका निर्दोष ज्ञान कर सकता है। निमित्तोंको दूर करनेकी किसीकी सामर्थ्य नहीं है किन्तु क्षमा बनाये रखना यह अपने पुरुषार्थके आधीन है। अज्ञानी पर-निमित्तोंको दूर करना चाहता है

किन्तु उनका दूर होना जीवके आधीन नहीं है। कोई परमें पुरुषार्थ नहीं कर सकता और उससे शान्ति नहीं मिल सकती। धर्मात्मा निमित्तका लक्ष्य नहीं करता, स्वयं ही समताभाव, क्षमा-स्वभावको धारण करता है।

विरोधी जीवको क्रोध व द्वेष करनेसे रोकना इस जीवके सामर्थ्यकी बात नहीं है, किन्तु अपनेमें, सहज-स्वभावमें समता रखना, यह उसकी स्वसत्ताकी बात है। घाणीमें पेल दे तो भी अशरीरीभाव बनाये रखनेकी बात है; उत्कृष्ट साधकदशाकी यह भावना है, इसीलिए उत्कृष्ट परिषह की यहां बात की हैं। यह सहज वीतरागदशाकी भावना है। निर्ग्रन्थ मुनिदशामें निरन्तर आत्म-समाधि जब लगती है तब बाहर क्या होता है इसकी उसे सुध भी नहीं रहती। 'कौन बोले? कौन सुने? कौन समझावे?' ऐसी तटस्थ वीतराग भावना आत्माके सच्चे स्वरूप की पहचान करनेसे होती है। पर-निमित्तोंको दूर करना, रखना, या उनमें मेल-मिलाप करना, या परिवर्तन करना चेतनके अधिकारकी बात नहीं है। उसको ऐसा निर्णय कर एकबार अपने सच्चे अभिप्रायकी स्वीकारता तो देनी चाहिये। आत्माकी स्वाधीनताको स्वीकार कर मजबूती लानेसे राग-द्वेष करनेका उपाधिभाव (बन्धभाव) पूर्णतया उड़ जाता है। जो कार्य आत्माके हाथमें है और करने-योग्य है उसे ही करना ज्ञानीका आशय है। अज्ञानी बाह्य संयोगोंको दूर करना चाहता है और उनसे राग-द्वेष-मोह करता है, किन्तु सम्यग्ज्ञानी धर्मात्मा मानता है कि अपने आश्रित मात्र ज्ञान-परिणमन है। वह उसके (ज्ञान-परिणमनके) द्वारा समता-स्वभाव में परिणमता है, इसलिए वह सहज ही राग-द्वेष, विषय-कषायको जीतता है।

कभी घोर असाताके उदयमें (जैसे शरीरको घानीमें पेल देनेके) घोर उपसर्ग आवें, तो भी ज्ञानी उस ज्ञेयका राग-द्वेष-रहित ज्ञान करता है, वह उसे जानता अवश्य है किन्तु वह जानने में अटकता नहीं, जो परमाणु अलग हो जाते हैं वह उनका ज्ञानमात्र करता है। जिसे आत्माकी श्रद्धा है वह उत्कृष्ट प्रतिकूल प्रसंगोंमें भी खेद नहीं करता, अंतरंगमें क्षोभ नहीं करता, ऐसी उसके ज्ञानकी दृढ़ता होती है। जब-तक वह गृहस्थ-अवस्थामें है तथा पुरुषार्थमें निर्बल है तबतक ज्ञानी होते हुए भी उसे थोड़ी अस्थिरता हो जाती है, किन्तु अभिप्रायमें वह अशरीरी वीतराग भावका लक्ष रखता है और उसे प्रगट करने की भावना करता है। पहले महान मुनिवर हो चुके हैं, वे चाहे-जितने उग्र परिषहमें भी अपूर्व समता-समाधि-भावकी सहज शांतिमें झूलते हुए ज्ञानकी रमणतामें स्थिर रहे हैं।

'देह पेली जाती है' ऐसे विकल्पको भी छोड़कर उन्होंने अपनेमें ज्ञानघन वीतरागदशा बनाये रखी। जिसमें रागद्वेषके विकल्पोंका प्रवेश न हो ऐसी अपूर्व साधक-दशा शीघ्र आवे, ऐसी भावना ही वह हमेशा रखते हैं। ऐसा धर्मात्मा गृहस्था-श्रमें था या आत्मामें? स्वरूपकी यथार्थ जागृतिके ज्ञान द्वारा आत्मा की अपूर्वताका यह संदेश है। अंतरंगमें आत्मबल द्वारा स्थिरता रखने और वीतराग-स्वभावको सिद्ध कर उसी रूप होने की भावना यहां की गई है। ऐसी भावना करनेवालेके निःशंक अभिप्राय में अपने आगेके भवका अभाव दिखता है।

'गृहस्थ दशामें भी दृढ़तर सम्यक्त्व हो सकता है' इस बातका परिचय कोई करे तो समझमें आवे। लोगोंका बाह्य-संयोग की सावधानी की ओर लक्ष्य रहता है कि ऐसा संयोग

होना चाहिए और ऐसा नहीं, किन्तु ज्ञानीका ऐसा अभिप्राय नहीं होता, वह अनुकूल-प्रतिकूल संयोगोंमें राग या द्वेष नहीं करता। यहाँ अशरीरी, अतीन्द्रिय, ज्ञान-आनन्दमय भावकी महिमा बताई है—'धन्य हैं वे मुनिवर जो समभावी रहे'। जिसके अंतरंगमें उत्कृष्ट साधकदशाकी रुचि यथार्थरूपसे जमी हो उसकी ऐसी भावना होती है।

"वंदे चक्री तथापि न मळे मान जो"—छह खण्डका अधिपति चक्रवर्ती महावैभवशाली होता है, उसकी हजारों देव सेवा करते हैं, वह ४८ हजार पाटण, ७२ हजार नगर, ९६ करोड़ पदातियोंका स्वामी होता है।

ऐसा राजा वर्तमानमें महाविदेह क्षेत्रमें विद्यमान है, वहाँ सनातन जैन निर्ग्रन्थ मुनिधर्म हमेशा रहता है। चक्रवर्ती सम्राट् अपने विशाल वैभवके साथ मुनिकी वन्दना करनेके लिए आता है और परम विनय-वंदनापूर्वक उनकी स्तुति करता है-"हे मुनिराज, आप बहुत ही पवित्र अवस्थामें हैं" किन्तु मुनिको इससे मानका अंश भी नहीं होता। 'जिसको जो रुचता है वही वह करता है। इस न्यायके अनुसार गुणका आदर करनेवालेको गुण रुचते हैं। वह गुणकी रुचि उसके अपने ही कारणसे है, और यदि कभी निन्दा करनेवालेको मुनिमें दोष दिखाई पड़े तो वह दोष भी उसीके कारणसे है। इसलिए मुनिको परके सम्बन्धमें कोई विकल्प नहीं उठता। जो चैतन्य-आनन्दमूर्ति भगवान आत्मामें, अपनी ज्ञानानन्दकी सहज समतामें महासुख मानकर पूर्ण स्थिरतामें, एकाग्रतामें स्थित है—उसे स्व-स्वरूपसे बाहर निकलना कैसे रुचे? नहीं रुचे।

मुनि अवस्थामें जो पवित्र दशा प्रत्यक्ष प्रकट होती है। उस

उत्कृष्ट साधकदशाके प्रति इस गाथामें आदर व्यक्त किया गया है। वह दशा अपनेमें वर्तमानमें नहीं है इसलिए उसके प्रति अपनी रुचि व्यक्त की है, लेकिन अपनेमें कुछ पात्रता है और उस दशाके प्रति आदर है इसलिए पूर्णताके लक्ष्यसे यह भावना की गई है। जिसे यथार्थ स्वरूपकी पहचान है ऐसा सम्यग्दृष्टि ही ऐसी भावना कर सकता है।

"लही भव्यता मोटुं मान, कवण अभव्य त्रिभुवन अपमान"—तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ भगवानकी धर्म-सभामें किसी जीवके लिए यह ध्वनित हो कि 'वह भव्य है' तो उसके समान जगतमें दूसरा क्या सम्मान होगा? किसी जीवके लिए सहज वाणीमें आया कि 'यह जीव अपात्र है' तो जगतमें उससे अधिक भारी अपमान और क्या समझना चाहिए? साक्षात् सर्वज्ञ भगवानकी वाणी किसी जीव विशेष-को लक्ष्य कर कहे कि 'यह जीव सुपात्र है,' तो जगतमें इससे अधिक भारी सम्मान और क्या? जब गौतमस्वामी समवसरण (धर्मसभा) में प्रविष्ट हुए और मानस्थम्भ पारकर प्रभु (महावीर स्वामी) के सम्मुख गए कि प्रभुकी दिव्यध्वनि हुई "अहो! गौतम भव्य है"—ऐसा साक्षात् दिव्यध्वनिमें प्रथम स्थान गौतमको मिला।

महावीर तीर्थंकर भगवानको केवलज्ञान प्रगट होने पर भी ६६ दिन तक वाणी खिरी नहीं। सर्वज्ञ भगवान तो वीतराग हैं उनके इच्छा नहीं होती, किन्तु भाषा-रजकणोंका प्राकृतिक योग ही ऐसा होता है कि लोकोत्तर पुण्यवान गणधर-पदवी पानेयोग्य जीवका उपादान जबतक प्रभुके सन्मुख नहीं होता तबतक तीर्थंकर भगवानकी वाणी दूसरेको निमित्त नहीं होती।

सौ इन्द्र, लाखों देव आदि असंख्यात प्राणी भगवानके दर्शन व वाणी सुननेके लिए आए थे, इन्होंने भी भगवानकी भक्ति की, किन्तु ६६ दिन तक भगवानकी वाणी नहीं खिरी और गौतमके सन्मुख आते ही दिव्यध्वनि व्यक्त हुई; उस समय भी गौतमको अपने बड़प्पनका अभिमान नहीं हुआ किन्तु वह प्रभुके सम्मुख दीनता एवं नम्रतासे विनयपूर्वक झुक गया, मुनिपदकी प्रतिज्ञा कर ध्यानमें लीन होगया और तुरन्त ही सातवीं अप्रमत्त भूमिका, निर्विकल्प दशा और चौथा मनःपर्यय ज्ञान प्रकट हुए और उन्हें गणधरदेवकी पदवी मिली।

साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मासे नीची पदवी गणधरदेवकी है। ऐसी पदवी पाकर भी गौतम अत्यन्त निर्मानतासे कहते हैं कि "धन्य प्रभु! आपकी दिव्य वाणीको भी वन्दन करता हूँ; धन्य प्रभु! आपका वीतराग मार्ग! क्या पूछूं? सब समाधान हो गया। धन्य प्रभु! आपके अपूर्व उपकारी वचन सुनते ही भव्य जीवोंके सम्पूर्ण सन्देह मिट जाते हैं और वे निरभिमान भावसे आत्मामें स्थिर हो जाते हैं। उस अनन्त उपकारका वाणी द्वारा क्या वर्णन करूँ?" गणधरदेवको ऐसी उत्कृष्ट साधक दशा है, पांचवें ज्ञान (केवल)को प्रकट करनेका पुरुषार्थ है। ऐसी निर्मानी निर्ग्रंथ दशाका अपूर्व अवसर मुझे कब मिलेगा? ऐसी भावना यहां भाई गई है।

मोक्षमार्ग प्रकट करनेवाला यह निर्ग्रंथ-मार्ग ही है, अन्य मार्ग नहीं। चक्रवर्ती राजा मुनिका बहुत सम्मान करते हैं, हजारोंका जनसमूह, अनेक राजा-महाराजा सपरिवार आकर उनका दर्शन करते हैं, किन्तु मुनिको इससे अभिमान नहीं होता, क्योंकि वे जानते हैं कि आत्माका मान द्रव्य

या विकल्पसे नहीं होता, वह तो अपने भावका फल है। कोई निन्दा या स्तुति करे तो वह नामकर्मकी प्रकृति है, उससे उन्हें कोई हानि-लाभ नहीं है, ऐसा माननेवाले मुनिवर धन्य हैं !

"देह जाय पण माया थाय न रोममां"—साधक दशा वाले मुनि पूर्ण शुद्धताके पुरुषार्थमें लीन रहते हैं। उस समय कभी देह-नाशका प्रसंग आवे, कभी घोर परिषहका प्रसंग आवे तो भी वे देहके प्रति अंशमात्र भी ममता नहीं करते, पुरुषार्थकी स्थिरतासे छूट कर रागद्वेषमें नहीं अटकते। जहाँ सरल पुरुषार्थ होता है उसमें कुटिलता को स्थान नहीं होता, निराबाध पुरुषार्थ पूर्णताके लक्ष्यमें चालू रहता है। उन्होंने पूर्ण केवलज्ञानके ऊपर ही सुनिश्चल दृष्टि डाली है अर्थात् वे उसमें अपने पुरुषार्थको लगाकर सतत, अबाध स्थिरतामें लीन रहते हैं। इस बीचमें यदि देह-नाशका प्रसंग आ जाय तो भी पुरुषार्थकी गति नहीं बदलती, मोहभाव या मायाका अंश भी नहीं आता, कभी भी पुरुषार्थकी वक्र गति नहीं होती। 'ऐसे वीतराग भावका पुरुषार्थ जिस कालमें प्रगट करूँगा वही स्वकाल धन्य है'—ऐसी भावना यहाँ की गई है।

"देह-नाशके समय भी मेरा अतीन्द्रिय पुरुषार्थ सतत निराबाध रहो। देहका विकल्प भी नहीं रहे। कभी घोर उपसर्ग हो तो अपूर्व समाधिमरण (पण्डित मरण) की जागृति बढ़े, देह जाते हुए भी मेरे रोममें भी माया न हो, किसी भी कालमें स्वभाव-परिणतिकी गति विपरीत न हो।" ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा? ऐसी यह भावना है।

"लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो"—वचन-सिद्धि, अणिमा आदि लब्धियाँ प्रगट होने पर भी उन्हें उपयोगमें

लेनेका विकल्प भी नहीं आता। नवकोटि-विशुद्ध ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रहता, सत्यव्रत, अहिंसा आदि संयम-भावना-गुण, वीतरागता, समता बढ़ने पर महा पुण्यवन्तके ऋद्धियाँ—(वचनसिद्धि, अणिमा, महिमा आदि) प्रकट होती हैं, किन्तु ये सिद्धियाँ प्रकटी हैं या नहीं यह देखनेके लिए मैं अपना उपयोग नहीं लगाऊँ ऐसी भावना है। मेरेमें अनन्तसुख है, मैं स्वयं आनन्दघन सिद्ध हूँ, इसमें जड़ पुण्यकी लब्धिका किसलिए विचार? अमृत-जैसे उत्तम आहारका खाने वाला मल खाने का विचार भी नहीं करता, उसीप्रकार मुनिको पूर्ण शुद्ध आत्माके सिवाय अन्य रागादि करनेका विचार नहीं होता। 'पूर्ण शुद्ध निजपद न प्रकटे तबतक एक समय भी प्रमादमें लिप्त होऊँ तो बहुत हानि है' ऐसा जिसने जान लिया है और पूर्ण होनेकी दृढ़तर रुचि जिसकी बढ़ती जाती है वह अपने पुरुषार्थको उपाधिमें कैसे लगावे? नहीं ही लगावे। किसी मुनिके थूक या मूत्रमें भी लब्धि होती है, किन्तु वह पुण्यकी लब्धि है या नहीं, इसका आत्मार्थी विचार नहीं करते। जहाँ पूर्ण निर्लोभ और वीतराग दशाका पुरुषार्थ दृढ़ है—वहाँ किसी पर-निमित्तमें अटकना नहीं बनता, विशेष बलवान सिद्धि प्रकट होने पर भी उसके सम्बन्ध में विकल्प नहीं हो ऐसी स्थिरताका अपूर्व स्वसमाधि-योग कब आवेगा? ऐसी यह भावना है ॥८॥

नग्नभाव मुंडभाव सह अस्नानता,
अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो।
केश रोम नख के अंगे श्रृंगार नहीं,
द्रव्यभाव संयममय निर्ग्रन्थ सिद्ध जो ॥९॥

'वह अपूर्व अवसर धन्य है जब देह संयमके लिए ही हो, वह नग्न रहे अर्थात् वस्त्र-सहित नहीं हो, द्रव्य और भाव दोनोंसे नग्न (निर्ग्रंथ) हो, अंतरंगमें देहादिकी आसक्ति का अभाव–अनासक्ति और बाह्यमें प्राकृतिक दिगम्बर देह। जब देहके प्रति राग नहीं, तो रागका निमित्त वस्त्र भी नहीं होना चाहिये। जिसे शरीरकी कुशलताके प्रति आसक्तिका भाव नहीं है, जो अशरीरी भावमें रहता है ऐसे मुनिके संयम हेतु ही देह होती है।' २९वें वर्षमें श्रीमद्‌ने ऐसी ही भावना भाई थी। तीन कषाय के अभावरूपी राग दूर होते ही बाह्य कृत्रिमता भी दूर हो जाती है। सर्वप्रथम दृष्टिमें से देहके प्रति ममत्वभाव दूर होना चाहिये। बाह्याभ्यंतर नग्नभाव निर्ग्रंथताकी ही भावना बढ़ाता है। अविकारी चैतन्यस्वरूपके भीतर न पुण्य-पाप है, न अस्थिरता और बाह्यमें वस्त्र भी नहीं। ऐसी साधकदशा हुए बिना मोक्षदशा नहीं प्रकट होती। यहाँ आसक्तिका सर्वथा निरोध करनेका दृढ़तर अभिप्राय प्रगट होता है।

१२वीं गाथा तक मुनित्वकी भावना की गई है और कहा गया है कि मेरे पूर्ण स्वरूपमें स्थिर रहनेका उत्साह (स्वरूपमें सावधानी) रहे, उसमें जरा भी असावधानी (प्रमाद) न हो।

साधकको प्रतिकूलताकी अग्निरूप वासनामें जलना नहीं है और अनुकूलताकी बरफरूप आशामें गलना नहीं है, मात्र अंतरंगमें परम उदासीनता होनी चाहिए। ध्याता-ध्यान-ध्येयका विकल्प छूटकर पूर्ण स्थिरता रहे ऐसी दशा कब आवेगी? यही भावना है।

'मुण्डभाव' अर्थात् मस्तक, दाढ़ी आदिके केश बढ़ाना नहीं तथा छुरे इत्यादिसे बाल कटवाना ऐसा भी नहीं है

किन्तु हाथोंसे केश उखाड़ने (केशलुंचन) को यहाँ मुण्डभाव कहना है ।

जब सम्यक्चारित्र दशा होती है तब देहकी आसक्तिका खास अभाव होता है; वहां बाह्यमें मुण्डन भी हो ही जाता है ऐसा ही दोनोंका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है । पाँच इन्द्रियके विषयों और चार कषायोंका त्याग और केशलुंचन यह दस प्रकारका मुण्डन है । स्वरुचि के बलद्वारा पाँच इन्द्रियोंके विषयसम्बन्धी राग-द्वेष-मोहकी रुचिको नष्ट कर देनेके बाद क्रोध, मान, माया, लोभका त्याग होता है । जहाँ निर्ग्रंथ साधकदशा होगी वहाँ बाह्यमें केशलुंचनरूप नैमित्तिक कार्य भी अवश्य होगा ऐसा नियम है। किन्तु यह कालकी ही महिमा है कि वीतरागमार्गसे विपरीत वेषधारी साधु जगतमें प्रकट हुए और कहने लगे कि—"उस्तरेसे बाल कटाओ, स्नान करो, वस्त्र पहनो इत्यादि ।" किन्तु भाई रे ! जो सनातन निर्ग्रंथ मुनिधर्म है उसमें अपनी बुद्धिसे अन्य विपरीत कथन करना या मिला देना केवलज्ञानीकी कथनीसे प्रतिकूल है । अपनेसे वैसा पुरुषार्थ न हो सके यह बात अलग है और मान्यता ही विपरीत कर देना यह अलग बात है । यह त्रैकालिक नियम है कि मुनिधर्म निर्ग्रंथ ही होता है । बाह्यमें वस्त्रादि परिग्रहसे रहित नग्नत्व और अभ्यंतरमें मिथ्यात्व, रागादि कषायसे रहित, इसप्रकार द्रव्य और भाव दोनों से अनासक्ति हो यही त्रैकालिक मार्ग है। किसी प्रकारके शस्त्र या अस्त्र बिना हाथ द्वारा ही केशका लोंच करनेका व्यवहार है, बाह्य निमित्त ऐसा ही होता है। त्रिकाल सर्वज्ञके शासनकी एक ही विधि है, उसमें अन्य मार्ग कैसे हो सकता है ? अभिप्रायमें भूल होनेसे सारे तत्त्वकी

हानि हो जाती है। नव तत्त्व क्या हैं? मोक्षमार्ग क्या है? इसकी श्रद्धा बिना साधक आगे बढ़ सकता है—ऐसा कोई माने तो वह अपनेको अनन्त ज्ञानियोंसे अधिक मानता है। यदि कोई अपने वीतरागमार्ग-मुनिधर्ममें नहीं रह सकता हो तो वह स्पष्ट कहे कि मैं इस मार्गमें नहीं रह सकता। जिनशासनका धर्म तो यही वीतरागमार्ग है। जो इसकी सच्ची प्ररूपणा करता है वह अविरोध मार्गको बनाए रखता है और जो अपने मनमाने अभिप्राय जिनशासन-धर्मके विरुद्ध प्रकट करता है वह सर्वज्ञ वीतराग कथित मोक्षमार्ग का विरोध करता है, अथवा स्वयं अपना ही विरोध करता है।

अनन्त ज्ञानियोंने जिस न्यायको कहा है उस न्यायका विचार किए बिना कोई उससे विपरीत अनुमान करे तो करो, किन्तु उससे सच्चे मार्गको कोई बाधा नहीं आती। लोगोंको शरीरके प्रति बहुत ममता है इसलिये अपनी बुराइयोंको छिपानेके लिये कुतर्क करते हुए कहते हैं कि वस्त्र तो मुनिकी शीत-उष्णसे रक्षा करते हैं, अतः वस्त्र संयमके साधक हैं, इसलिए इस कालमें वस्त्रसहित ही मुनि होना चाहिये, किन्तु जो मार्ग जिनेन्द्रदेवने कहा है उसकी प्रतीतिस्वरूप तो यही नग्न निर्ग्रन्थ साधकदशा है, उसके बिना मोक्षमार्ग नहीं है। चाहे स्वयं कोई मुनिधर्ममें न रह सके, किन्तु सर्वज्ञ-वीतरागमार्गकी श्रद्धा और न्यायमें अन्यथापन नहीं करना। उक्त प्रकारकी साधक दशा ही मोक्षका कारण है। पूर्ण शुद्ध आनन्दघन आत्माको प्रकट करनेका मार्ग तीनों काल यही है, अन्य नहीं।

प्रश्नः—देश-कालके कारण उसमें कुछ परिवर्तन नहीं हो सकता क्या?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि—

'एक होय तीनों कालमें परमारथका पंथ।'

(आत्मसिद्धि पद ८६)

'मैं पूर्ण शुद्ध हूँ' यह निश्चय (परमार्थ) है और रागद्वेष दूर कर स्थिर होनेका पुरुषार्थ ही ज्ञानकी क्रिया का व्यवहार है। जब अन्तरंगमें विरक्ति होती है तब बाह्य निमित्त भी तदनुकूल होते हैं। परम उपशम भाव (वैराग्य भाव) वाले जीवका शरीर भी स्नानादि-संस्काररहित रूखा एवं विरक्त होता है, यह प्राकृतिक निमित्त-नैमित्तिक योग है। तीनों कालमें परमार्थका एक ही मार्ग होता है। अनन्तकाल पहले घी, गुड़, और आटाकी सुखड़ी (एक गुजराती मिठाई) बनाते थे, आज भी उन्हीं तीन वस्तुओंसे सुखड़ी बनाते हैं, किन्तु उनकी एवज में पेशाब, मिट्टी और बालूकी सुखड़ी कोई नहीं बनाता। अनन्तकाल पूर्व जिस प्रकार से जैसी सुखड़ी होती थी उसी प्रकार से तीनों कालमें होती है। किन्तु हां, पुराने घी, गुड़ और आटा का रस करने से मिठास सहज ही घट जाता है किन्तु उसकी जाति तो वैसी ही बनी रहती है। कोई इससे विपरीत कहे या माने तो जैसे वह मिथ्या है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन सम्यक्ज्ञान और रागरहित ज्ञानकी स्थिरता, रमणतारूप वीतरागचारित्ररूप मोक्षमार्ग त्रिकाल अबाधित एवं सनातन है। वीतरागदशावाले साधक मुनिका दिगम्बर स्वरूप भेष तीनों कालमें एक ही प्रकारका होता है, उसका कोई अन्यरूप बताए तो वह मिथ्या है। २४६७ वर्ष पूर्व इस भरतक्षेत्रमें मुनिधर्म ऐसा ही था, उस समय हजारों मुनियोंके संघ थे। उस समय साक्षात् शुद्ध चिदानन्द, आनन्दघन, चैतन्यमूर्ति, ज्ञानपुंज भगवान तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ प्रभु इसी क्षेत्रमें विराजमान थे। उनके कितने ही वर्षों

बाद १२ वर्षीय दुष्कालमें वीतराग धर्मके नाम पर शिथिलाचारी धर्म चला यह अवसर्पिणी कालकी महिमा है। उस कालका आकार सर्पवत् है। सर्पका शरीर पहले पुष्ट मोटा होता है, तथा पूंछकी तरफ पतला होता जाता है, उसी प्रकार अवसर्पिणीमें धर्मका प्रथम उन्नत काल होता है किन्तु कालकी वृद्धिके साथ-साथ उसमें धर्मका ह्रास होता जाता है, किन्तु सर्वथा अभाव नहीं होता। वर्तमान पञ्चम कालके अन्त तक चैतन्यशक्तिके विकास करने वालोंकी संख्या घटती जायेगी किन्तु सर्वथा अभाव नहीं होगा। यदि कोई गृहस्थ हो तो पुरुषार्थकी मंदता हो सकती है किन्तु श्रद्धामें अर्थात् सच्चे अभिप्रायमें मुनि तथा गृहस्थके अन्तर नहीं होता, एक ही सनातन निर्ग्रन्थ मार्गकी श्रद्धा होती है।

कोई कहे कि जिसप्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव बदलता है उसी प्रकार धर्म भी बदलता है तो यह बात झूठी है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता ही मोक्षमार्ग है। स्वच्छन्द वृत्तिको कोई माने तो यह न्याय नहीं है किन्तु कुतर्क एवं विपरीतता है। निर्ग्रन्थ मुनिधर्म कोई न पाल सके तो अपनेको गृहस्थ-पदमें माने, गृहस्थ रहे, किन्तु अभिप्रायमें (श्रद्धामें) उल्टी मान्यता एवं विपरीत प्ररूपणा न करे। अपनेको वीतरागका मार्ग समझमें न आवे या न रुचे तो इससे सनातन मार्गको शिथिल नहीं बना लेना चाहिये। जैनधर्मानुसार तीनों कालोंमें नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थदशायुक्त साधक-अवस्थारूप मुनिमार्ग ही केवलज्ञान प्रकट करनेका एकमात्र उपाय है। वर्तमान कालमें पंच महाविदेहक्षेत्रमें तो अन्य मार्ग है ही नहीं और इस क्षेत्रमें भी मोक्षमार्ग के बन्द या मंद हो जाने से कोई मूल जैनधर्मको अन्य

प्रकार कहे सो बात ठीक नहीं । सनातन मार्गसे विपरीत माननेमें अपना ही भारी अहित है ।

यहाँ 'मुण्डभाव'का अर्थ मस्तकके बालोंको हाथसे उत्पाटन करना है । भावमें शुद्धता यह 'लोंच'का निश्चय अर्थ है । 'मैं ज्ञानानन्द पवित्र शुद्ध वीतरागी हूँ' ऐसी श्रद्धा, स्वानुभव (स्वसन्मुखता) के बल द्वारा आत्मामें विशेष स्थिरता होनेसे विशेष निर्विकार भाव उत्पन्न करता है, तब सहज ही बाह्य-आभ्यंतर निर्ग्रन्थपणा होता है ।

'नग्नभाव, मुण्डभाव सह अस्नानता'–मुनि अपने शरीर को जलसे साफ नहीं करते । सन्त-मुनियोंका मार्ग अस्नान-वाला ही है । वीतरागदशाका साधक जैनमुनि गीले वस्त्रसे भी शरीरको साफ नहीं करता । स्नान श्रृंगारमें गिना जाता है और श्रृंगार मुनिदशामें नहीं होता । अब कोई लोग कहने लगे हैं कि थोडेसे पानीसे स्नान करना ठीक है, पर ऐसा कहना अनुचित है । यथार्थ तत्वदृष्टिसे, न्यायपूर्वक मुनिका मार्ग तीनों कालमें नग्न ही होता है, उसमें कोई अपवाद, शिथिलता या विपरीतता नहीं होती । लोकोत्तर मार्ग और अतीन्द्रिय साधकदशासे पुरुषार्थकी हद क्या है ? आंतरिक अनुभव बिना उस पुरुषार्थकी जानकारी (महत्व) ठीक वैसे ही नहीं मिलती, जैसे विषयसेवी ब्रह्मचर्यका (महत्व) नहीं समझता ।

विषय-कषायका कीड़ा प्रतिदिन शरीरको धोकर अच्छे वस्त्र पहनता है, जब कि वीतराग दशाको साधनेवाला ब्रह्मचारी मुनि जीवनपर्यन्त स्नान नहीं करता । निर्दोष मुद्रावाला मुनि बाह्य और अभ्यन्तरमें सुन्दर और पवित्र है । मुनिके रूखे विरागी शरीरको देखते हुए भी 'वह महान्

पवित्रताकी निधि है ' ऐसी उसकी सौम्य मुखमुद्रा कहती है। स्नान करनेका विकल्प भी उसके नहीं होता। मृतक शरीरकी शोभा क्या? मलके ढेरके ऊपर शोभा करनेकी कोई इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार मुनिको शरीरकी शोभा करनेकी इच्छा ही नहीं होती। साधारण बुद्धिवालोंको यह बात समझना असम्भव-सा है।

जैनधर्म वह लोकोत्तर मार्ग है जो परिचय किये बिना समझमें नहीं आता। समझे बिना कुतर्कसे पार नहीं पड़ता। छह खण्डके स्वामी चक्रवर्तीको भी राज्य छोड़कर नग्न मुनि होकर ही विहार करना पड़ता है। वह देहादिकी ममता छोड़कर वीतराग समाधिमें स्थिर, चैतन्यमय ज्ञानपिंडके सहज आनन्दमें लीन हो जाता है, ज्ञान-ध्यान-वीतरागतामें मस्त रहता है, उसके क्षण-क्षणमें छठा-सातवां गुणस्थान पलटता रहता है। सातवें गुणस्थानमें ध्याता, ध्यान और ध्येयका विकल्प छूटकर परम समता-समाधिमें स्थिर होकर वह प्रस्तरको मूर्ति-जैसा हो जाता है, (जैसे तपाए हुए शुद्ध सुवर्णका ताजा लहलहाता ढेला ही पड़ा हो) तथा जैसे गम्भीर महासागरमें मध्यबिंदु से लहरें उछलती हैं वैसे ही एकाग्रतामें-स्वरूपलीनतामें उसके ऐसा उग्र पुरुषार्थ उछलता है जिससे ऐसा भासित होता है कि उसने केवलज्ञान प्राप्त करनेकी तैयारी कर ली हो। ऐसी उत्कृष्ट दशा कैसी होगी, इसका विचार करना चाहिये।

जैसे समुद्रमें लहर समुद्रके अन्दरके मध्यबिन्दुसे ही आती है, वैसे ही चैतन्यभगवान आत्मा ज्ञान-समुद्र है, उसे किसी बाह्य सहायताकी आवश्यकता नहीं, किन्तु अन्तरमेंसे ही पुरुषार्थ प्रकट होता है। साधक ऐसी अप्रमत्त भूमिकामें

अपूर्व पुरुषार्थ-सहित अपने स्वरूपके उत्साहमें स्थिरताका उग्र प्रयत्न करता है। वह अवस्था सहज आनन्द-दशा है जिसमें अनन्तगुणी शुद्धि स्वयं बढ जाती है। हमें उस दशा को देखना चाहिये या बाह्य निमित्तों को ? देहाध्याससे रहित आत्माका जो निर्ग्रंथ मुनिमार्ग है वही त्रिकाल वस्तुस्थिति है। साधारण बुद्धिवाले जीवों को लगता है कि यह तो प्राचीन युगकी बातें हैं। परमपवित्र पुरुषार्थ इसी वीतराग साधकदशाकी भूमिकामें कैसे होता है, इसके गंभीर आशय समझनेकी पात्रता होने पर जीव उसके बाह्य-आभ्यंतर दोनों पहलुओंको विरोधरहित समझ लेता है। जमाना बदला और स्वच्छन्दी लोग वीतराग-मार्गसे विपरीत मानने लगे। जैसे जैसे लोगोंमें आरामपरस्ती और देहकी ममता बढ़ती गई, वैसे वैसे वीतराग जिनशासनके नाम पर स्वच्छन्द शिथिलाचार पनपा और उसका समर्थन करनेके लिए मुनि-अवस्थामें वस्त्र-पात्र आदिके परिग्रहका विस्तार हुआ। इस प्रकार मुनिधर्म को भी गृहस्थधर्म जैसा ही मान लिया गया। भगवान महावीर निर्वाण के १६२ साल पश्चात् १२ वर्षका दीर्घकालीन अकाल पड़ा तब शिथलाचार पर मतभेद होनेसे दो पक्ष हो गए।

यदि पक्षपातकी बुद्धि छोड़कर मध्यस्थ भावसे तत्त्वका विचार किया जाय तो वस्तुस्थिति शीघ्र ही समझमें आजाती है। अन्य सभी पक्षों को छोड़कर यथार्थ वीतरागस्वरूपकी श्रद्धा की जावे तो मुनिधर्म—दिगम्बरस्वरूप कैसा हो वह जल्दी समझमें आ सकता है। दिगम्बर मुनि महावैराग्यस्वरूप उपशम-समता आदि गुणोंसे विभूषित रहते हैं। जैसे अंगारे पर राख हो तो भले ही ऊपरसे राख ही दिखाई पड़े, किन्तु अन्दर अग्नि प्रज्वलित रहती है वैसे ही ज्ञानी का शरीर भले ही रूखा-असुहावना लगे, किन्तु अन्तरंग में महापवित्र,

शांतिआनन्दका अनुभवस्वरूप चैतन्यमय निराकुलताका सुख रहता है। ये ज्ञानी मुनिस्वरूपकी समाधिमें लीन रहते हुए चैतन्यज्योति का अनुभव करते हुए अत्यन्त पवित्र, उज्जवल शांत एवं वीतरागी होते हैं। उनके बारम्बार छठे–सातवें गुण-स्थानका उतार–चढ़ाव चलता रहता है। सम्पूर्ण वीतरागकी साधना ही अपूर्व मुनि-अवस्था है। अन्तरंग–बहिरंग निर्ग्रंथ मार्ग द्वारा ही केवलज्ञान प्राप्तिका प्रयोग चलता रहता है।

कोई कहे कि मोक्ष तो आत्माका होता है, उसका वस्त्र त्यागसे क्या सम्बन्ध? चाहे जिस वेषमें मुनिधर्म हो, इसमें क्या बाधा है? ऐसे कुतर्कीको यह ज्ञात नहीं है कि छठे-सातवें गुणस्थानकी वीतरागदशा, (साधक मुनिमार्गकी स्थिति) उग्र पुरुषार्थमय उपादानकी तैयारी और वैराग्यरूप होता है, उसकी उसे समझ नहीं है, इसलिए वह अन्यथा कल्पना करता है।

यदि कोई कहे कि हम शरीरकी शोभा, लज्जा, नीरोगता आदि राग कषाय पोषण करनेके लिए वस्त्र नहीं रखते अपितु संयमके परिपालनार्थ ही वस्त्र पात्र रखते हैं तो उन्हें भी निर्ग्रंथ मार्गकी खबर नहीं है। इस गाथामें कहागया है कि –मुनि अवस्थामें जीवन पर्यंत स्नान नहीं करते। जब मुनि होनेकी भावनामें इतना बल है तब साक्षात् मुनि पदमें तो चारित्र भी उग्र होता है वहाँ शरीरके प्रति अणु मात्र भी ममत्व नहीं है, फिर देहकी शोभा क्यों? मुर्देको सजाना, सन्मान करना क्या?

मुनिके अचेतन ऐसे इस शरीरके प्रति राग नहीं होता; शरीर तो मृत ही है ऐसे अचेतन स्वभाववाले देहादिके प्रति

मुनि उदासीन होते हैं। उन्हें देहके प्रति अंश मात्र भी राग या आसक्ति नहीं होती; इसलिए शरीरका श्रृंगार करूँ, उसे अच्छा रखूँ ऐसी इच्छा मुनि कैसे करेगा? शरीरका स्नान तो शव को सजाने जैसा है। जगतमें देहादिकी व्याधिकी आरोग्यता होनेमें आनन्द और सुखकी कल्पना करते हैं किन्तु मुनि अशरीर ऐसे अतीन्द्रिय चैतन्यमें समाधि द्वारा सहज आनन्दकी निराबाध समताका अनुभव करता है। जो वीतराग दशामें रहते हैं वे केवलज्ञानको आमन्त्रण करते हैं। देह रहे या न रहे, ऐसा विकल्प उन्हें नहीं होता। ऐसी यथार्थ मुनि दशाकी भावना कौन नहीं भावे? श्रीमद्‌जीने अपनेको जैसी स्थिति प्रगट करना है वैसीही भावना की है, इसप्रकार उन्होंने वर्तमानमें मुनित्वकी तैयारी कर रखी थी। इसलिए अगले भव बादमें साक्षात् सर्वज्ञ, तीर्थंकर आदि किसी महापुरुषके पास मुनि पद धारण करेंगे और जिनाज्ञाका आराधन करते हुए स्वरूप स्थिरता द्वारा अपने स्वरूपमोक्ष–को प्राप्त करनेवाले होंगे। वे इस निर्ग्रंथदशा द्वारा जिनाज्ञाकी उपासना करते हुए पूर्णताको प्राप्त होंगे।

कहा भी है:—

अवश्य कर्मनो भोग जे, भोगववो अवशेष रे,
तेथी देह एक ज धारि ने, जाशुं स्वरूप स्वदेश रे;
धन्य रे दिवस आ अहो!

सूक्ष्म रूपसे अन्तरंग परिणामोंका अध्ययन करनेसे ज्ञात होता है कि अभी कुछ कर्म भोगनेकी योग्यता बाकी है इसलिये उन्हें क्षय करनेके लिए एक भव और धारण

करना पड़ेगा, ऐसी अन्तरंगमें प्रतीति करके ही श्रीमद्‌जीने ऐसा कहा है। कोई ऐसी अपूर्वताका सन्देश लाओ तो सही! अहो! गृहस्थावस्थामें भी अन्तरंगमें केवल ज्ञानकी झंकार और अति निकटता (समीपता)की साक्षी होती है, किसीको पूछने नहीं जाना पड़ता। लोग पक्षपात छोड़कर मध्यस्थता एवं न्यायसे विचारें तभी ज्ञानी धर्मात्माके हृदयको पहचान सकते हैं। 'धन्य रे दिवस आ अहो! जागी रे शान्ति अपूर्व रे।' यह वाणी आत्माको स्पर्श करके आई है इस भावनाके बलसे सच्चे अभिप्रायका अभ्यास और पुरुषार्थ बढ़ते हैं।

निर्ग्रंथ वीतरागमुनिदशामें अदंतधोवन, अस्नान, नग्न शरीर, वीतरागता आदिका होना सुप्रसिद्ध है। जिसे अपने अपरिमित ज्ञानस्वरूपमें उत्कृष्ट वीर्यका अटूट विश्वास है उसका जीवन सहज ही प्राकृतिक होता है। उसके दाँत नहीं बिगड़ते हैं, उनमें दुर्गन्ध नहीं आती है। ऐसा महाब्रह्मचारियोंका शरीर शांत, सौम्य और परम वैराग्यरूप होता है। वे किसी भी समय छोटासा वस्त्र भी नहीं रखते। 'अदंतधोवन' की स्थिति बनी रहती है। उनके नवकोटि-विशुद्ध ब्रह्मचर्य, समिति, गुप्ति, पंचमहाव्रत आदि सहज ही होते हैं।

मुनिके अपने शरीरको सुधारने, सम्हालने या शृंगार करनेका भाव नहीं होता। उनके वीतरागी आचरणमय संयम, ज्ञान-स्वरूपकी रमणता या एकाग्रता रहती है। अंतरंग-बहिरंग-परिग्रहसे रहित मुनि छठे-सातवें गुणस्थानमें रहते हैं। उनके बाह्य या अभ्यंतर कृत्रिमतासे रहित सहज निर्दोष निर्ग्रंथदशा रहती है। मुनिपद—अर्थात् निर्ग्रंथ मार्गद्वारा केवलज्ञान प्रकट करनेके उपायमें स्थिरतारूप चारित्र ही ज्ञानकी क्रिया है।

इस वीतरागस्वरूप साधककी भूमिकामें बाह्यमें नग्न शरीर (निर्ग्रन्थ अवस्था) ही सहज निमित्त हो, यह तीनों काल का नियम है। श्रीमद् रायचन्द्र उस नियमको जानते थे इसीलिए गाथामें ही कहा कि:—

"क्यारे थइशुं बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो
सर्व सम्बन्धनुं बन्धन तीक्ष्ण छेदीने
विचरशुं कब महत्पुरुषने पंथ जो"

'मात्र शरीर ही संयमका हेतु हो' ऐसी अवस्था महान पुरुष, पूर्ण निष्परिग्रही, नग्न दिगम्बर भावलिंगी मुनिके ही होती है। मुनि-अवस्थामें अंतरंगमें रागद्वेषादि अज्ञानकी ग्रन्थि नहीं होती ॥९॥

शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता
मान अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो
जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता
भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो ॥अपूर्व॥१०॥

इस पदमें मुनिपदके योग्य समताभावकी स्वाभाविक स्थिति बताई गई है। शत्रु या मित्र दोनोंकी आत्मा शक्ति-रूपसे सिद्ध भगवान-जैसी है इसलिए मैं किस पर राग या द्वेष करूँ। कोई बाँससे पीटनेवाला मिले, वसूलासे छेदनेवाला मिले या कोई चन्दन लगानेवाला, किन्तु उनमें से किसीमें भी किसी प्रकारकी इष्ट या अनिष्टकी कल्पना नहीं है, ऐसी स्थिति इस पदमें व्यक्त की गई है। कोई पूर्व कारणसे शत्रु होकर इस शरीर पर उपसर्ग करे तो भी द्वेष नहीं है, इसलिए

मुनि के वीतराग भाव हैं। कोई मित्र होकर शरीर की पूरी सम्हाल रखे, आदेश सुनते ही अनेक सुखसाधन जुटावे, बहुत विनय करे ऐसे मित्रके प्रति भी रागभाव नहीं है। इसप्रकार शत्रु-मित्रके प्रति समभाव है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि दुर्जनको सज्जन माना जाय, किन्तु ज्ञानमें यह समझा जावे कि उसकी प्रकृतिकी मर्यादा ऐसी है, विषको विष जाने, क्रोधीको क्रोध-प्रकृतिवाला समझे, सज्जनको सज्जन जाने, किन्तु दोनों समानगुणवाले हैं ऐसा न माने। जैसा है वैसा ही जाने किन्तु किसीसे हर्ष शोक या इष्ट अनिष्टपना नहीं करे। इस प्रकार दोनोंके प्रति समभाव प्राप्त कर आगे उत्कृष्टता प्राप्त करता है कि 'जीवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता, भव-मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो'। यहाँ एकधारारूप समताभाव जीवनमें आवे ऐसा अपूर्व अवसर कब आवे, इसकी भावना की गई है।

'अवसर' शब्दका विश्लेषण है अव + सर; अव=निश्चय, सर=बाण, शुद्धनयरूपी धनुष्य और शुद्ध उपयोगकी तीक्ष्णताका एकाग्रतारूपी बाण द्वारा सबही कर्म-कलंकोंका नाश हो जाय, ऐसा अपूर्व अवसर जल्दी प्राप्त करनेकी भावना यहाँ की गई है।

देह दीर्घकाल तक रहे या अल्पकाल तक, दोनों समान हैं। जीवन और मृत्यु यह पुद्‌गलोंके अनन्त रजकणोंकी अवस्था है, उसका मिलना, गलना या पृथक् होना पुद्‌गलके आधीन है, उसे आत्मा नहीं रख सकता। धर्मात्मा इस देहके छूटनेके समय पर अपूर्व पुरुषार्थसे समाधिमरण-पूर्वक शान्ति प्राप्त करता है। जगत्में जैसे कुत्ता, बकरा, ऊंट आदि पशु मरते हैं और उनका जीवन व्यर्थ जाता है, उसी-

प्रकार धर्मरहित मनुष्यादि जीवोंका जीवन व्यतीत होता है। कोई कभी अधिक-पुण्यवाला भी हो तो परमार्थमें उसकी कोई कीमत नहीं है, किन्तु जिसे यथार्थस्वरूपकी प्रतीति है, मात्र जो मोक्षाभिलाषी है और जो स्वरूपके ज्ञानकी कीमत जानता है वह स्वरूपकी सावधानीसे जागृतसफल जीवन व्यतीत करता है। ज्ञानी धर्मात्मा अकषाय-स्वरूपमें उल्लासवन्त होता हुआ भी आयु पूर्ण होते समय अपूर्व समाधिमरण करनेका उत्साह लाता है। देहकी आयुका अन्त निकट जानकर उसके अपूर्व भावनाका उल्लास प्रस्फुटित होता है। बेहद श्रद्धाका पुरुषार्थ उसके स्वरूपकी एकाग्रतामें वर्तता है। देहका चाहे जो हो उसकी सम्हाल कौन रख सकता है? आयु पूरी होने पर जिस क्षेत्रमें, जिस कालमें, जिस प्रकार देह छूटना हो उसी प्रकार छूटना होगा। एकसमय-मात्रकी भी देर नहीं होगी। आयुका ७ प्रकारसे क्षय कहा जाता है। किन्तु वह व्यवहारका कथन है आयुकी स्थिति पूर्ण होनेपर ७ कारणोंमेंसे कोई एक कारण उसके निमित्त होता है ऐसा नियम बताया है, किन्तु कोई किसीकी आयुमें कमती-बढ़ती नहीं कर सकता।

प्रश्न—तो फिर किसीको मारनेमें पाप नहीं लगेगा, क्योंकि जिलाना या मारना किसीके हाथकी बात नहीं है।

उत्तर—कोई किसीके मारने या जिलानेका कार्य नहीं कर सकता, किन्तु जिलाने या मारनेका भला-बुरा भाव जीव कर सकता है। जीव या तो ज्ञान करे या अज्ञान या पुण्य-पापके भाव करे। जिलानेका राग पुण्यभाव है और मारनेका भाव पापभाव है। मैं परका कुछ कर सकूँ ऐसा विपरीत भाव अज्ञान है।

ज्ञानी देहके वियोगको प्रत्यक्ष-सामने देखता है इसलिए

उसके देहका चाहे जो हो जावे किन्तु उसके रखने या नहीं रखनेकी उसे इच्छा नहीं रहती। क्योंकि देह उसकी आयुकी स्थिति-अनुसार ही रहेगी, इसलिए ज्ञानीको उसकी चिन्ता नहीं है।

[ता० ४-१२-३९]

आत्मज्ञानयुक्त पूर्णताके लक्ष्यसे स्वरूप-स्थिरताकी यह भावना है। शत्रु या मित्र, निंदक या वन्दकको समान समझने व जीवन-मृत्यु तथा संसार-मुक्तिको समान समझनेके सम्बन्धमें 'शांतिजिन-स्तवन'में कविने बताया है —

मान अपमान चित्त सम गणे सम गणे कनक पाषाण रे
वन्दक निंदक सम गणे ईस्यो होय तूं जाण रे
सर्व जगजंतुने सम गणे गणे तृण-मणि भाव रे
मुक्ति-संसार बेउ सम गणे मुणे भवजलनिधि नाव रे
शांति जिन एक मुज बिनति ॥

शान्ति अर्थात् समतास्वभाव। हे परमात्मा! आपने सिद्धस्वभाव प्रगट किया है। मैं भी आपके-जैसा ही होने योग्य हूँ यह लक्ष्यमें रखकर यहाँ श्रीमद् कहते हैं कि संसार और मुक्तिमें भी समान-दृष्टि रहे। यहाँ बेहद-समतामय अखण्ड द्रव्यस्वभाव और वीतरागता बताई है। द्रव्य तो अनादि-अनन्त है, इसलिए 'बन्ध' और 'मोक्ष' ऐसी दो अवस्थारूप दो भेदकी कल्पनामें ज्ञानी अटकता नहीं है।

ज्ञानीको भव-संसारके प्रति खेद नहीं। एक-दो भव बाकी हो, या भवका अभाव किया हो उसमें संसारी और मुक्त अवस्थाका शोक या हर्ष करनेका समय नहीं, ऐसी अप्रमत्त भूमिका लेकर आगे क्षपक श्रेणीमें आरूढ हो, ऐसा

वीतराग भाव (स्वसमय) कब आवेगा, यह भावना यहाँ व्यक्त की है।

'सिद्ध-समान सदा पद मेरो'।—ज्ञानी स्वभावमें तो पूर्ण पवित्र शाश्वत चिद्घन है, किन्तु उसके वर्तमान-अवस्था में कमजोरीके कारण अस्थिरता रहती है।

छठे गुणस्थानमें शुभ विकल्प व्यक्त-अव्यक्त होते हैं उसमें मोक्षकी इच्छाका विकल्प रहता है, उस विकल्पको भी नष्ट कर ऐसी उत्कृष्ट दृढ़तर स्थिरता-एकाग्रता करूँ कि केवलज्ञान की उत्कृष्ट पर्याय उघड जावे, ऐसा यहाँ कहा गया है। उसे पानेकी योग्यता या उत्कृष्ट दशावाला समभाव हो वहाँ मोक्ष दशा प्रकट होती है। बन्ध और मोक्ष ये दो तो आत्माकी अवस्थायें हैं और आत्मा अविनाशी नित्य है। संसार-पर्याय बन्धनरूप है। शुभ या अशुभ परिणाम भावबन्धरूप अवस्था है, उसके अभाव की अपेक्षा मोक्ष कहा जाता है। संसार और मुक्ति पर्यायदृष्टिसे पर-निमित्तकी अपेक्षा दो भङ्ग हैं। आत्मा उस दो भङ्ग-जितना नहीं है, क्योंकि आत्मा निमित्त की अपेक्षारहित नित्य एकरूप है। आत्मभानपूर्वक चारित्र दोष टालनेके लिए उग्र पुरुषार्थकी भावनासे उग्र निर्जरा भावका वर्णन इस पदमें किया गया है।

एकाकी विचरतो वली स्मशानमें,
वली पर्वतमें वाघ सिंह संयोग जो।
अडोल आसन ने मनमें नहिं क्षोभता,
परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो ॥अपूर्व०॥११॥

गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी श्रीमद् रायचन्द्र कितनी उत्कृष्ट

भावना करते थे। उनके अन्तरंगमें पवित्र उदासीनता, निवृत्ति-भाव, मोक्षस्वरूपको प्राप्त करनेका उत्साह जागृत होता है। वह निर्ग्रंथ दशा साधक दशा धन्य है, जो माहात्म्य करने योग्य है।

श्मशान, जङ्गल, पहाड़, गुफा आदि स्थानोंमें, जहां सिंह आदि रहते हैं, एकाकी रूपसे विचर सके ऐसी महापवित्र दशा धन्य है। वे मुनिवर भी धन्य हैं जो ऐसे शांत, एकांत-क्षेत्रमें एकत्व-दशाकी साधना करते हैं। किसी पर्वतकी गुफामें या शिखर पर रहकर बेहद आनन्दघन स्वभावकी मस्तीमें लीन होकर जाग्रत ज्ञानदशाकी एकाग्रता द्वारा केवलज्ञान शक्तिको प्रगट करूँ, या एकांत निर्जन बनमें नग्न निर्ग्रंथ मुनि बनकर, सहज-स्वरूपमें मग्न होकर पूर्णपद प्रकट करूँ, ऐसी पूर्ण पवित्रदशा कब आवेगी, यही भावना प्रस्तुत पदमें की गई है।

जहाँ सिंह और बाघ गर्जन करते हैं, जहाँ साधारण जीव कांप उठें—ऐसे वन-क्षेत्रमें शांत, एकाकी, निस्संग परिणाम वाले, महावैराग्यवान, उपशम–समताकी मूर्ति, चैतन्य-ज्योतिस्वरूप बनकर आनन्दमय, सहज समाधिमें लीन हो जाऊँ, ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा?

जिनके अन्तरंग अभिप्रायमें अशरीर चैतन्यभाव वर्तता है, वर्तमान चारित्रमें कुछ अपरिपक्वता होनेसे जङ्गलकी एकांत स्थितिका विकल्प आता है और उत्कृष्ट साधकदशाकी भावनाको पूर्ण करनेके लिये सिंहोंसे परिपूर्ण घने जङ्गल, पर्वतकी गुफा या एकांत स्थानमें जाकर निश्चल आसन लगाऊँ और बाह्य व अन्तरंगमें अक्षोभता रखूं ऐसा चितवन

होता है उनके क्षोभरहित परिणाम सहज ही होते हैं। शरीर स्थिर रहे या न रहे यह भिन्न बात है क्योंकि वह आत्माके आधीन नहीं है, किन्तु अन्तरंगमें वीतरागमय निश्चल स्थिर भावकी एकाग्रता बढ़ती जाती है। ऐसी स्वरूप-जागृतिकी स्थितिमें सिंह आकर क्या करे? यह शरीर तो मुझे नहीं चाहिये इसलिए उसे लेनेके लिए आनेवाला अर्थात् उसकी निवृत्ति करानेवाला उपकारी मित्र है, ऐसी भावनाका उत्साह ऐसे साधकको ही आता है।

कोई बाह्य-साधनाका पक्ष करता है, किन्तु यहां तो पूर्ण स्वरूपके उत्साहकी भावना है। जो आत्मासे हो सके ऐसी ज्ञानक्रिया या स्वरूपमें रमणताका विचार है। इस प्रकारके अडिग, निश्चल असीम विश्वास और स्वीकारता तो करो। कभी सिंह शरीरके टुकडे भी कर दे तो भी क्षोभ न हो। यह भावना विवेकसहित है-मूढतायुक्त नहीं है। हठयोगजनित मनकी बाह्य स्थिरतासे मूढ़ हुए लोगोंकी यहां बात नहीं है। यहाँ तो असली साधकदशाकी भावना है।

कहा भी है कि "ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारो रे, और न चाहुँ रे कंथ, रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे भांगे सादि अनन्त।" इसप्रकार अखण्ड वीतराग दशाकी भावना की गई है। इससे आगे बढ़कर अपनी शुद्ध-चेतना-सखीको कहते हैं कि 'चलो सखो वहां जाइअे जहाँ अपना नहीं कोई, माटी खाय जनावरा, मुवाँ न रोये कोई।' 'देहका चाहे जो हो, किन्तु अखण्ड समाधिका मङ्गल-उत्सव हो' ऐसी स्वरूप की सावधानी, निःशंकता, निर्भयता कैसे आवे? ऐसी भावना यहाँ की गई है।

जैसे राजमहलमें राजा निर्भय होकर सोता है वैसे ही मुनिराज बाह्याभ्यंतर निर्ग्रंथ दिगंबर दशामें पर्वत, वन-क्षेत्रमें जहाँ सिंह बाघ रहते हैं वहाँ भी स्वसन्मुखता द्वारा बाह्य-अभ्यंतर असंग एकत्वदशा साधते हैं और ध्यानमें निश्चल रहकर स्वरूप-मस्तीमें सहजआनन्दकी रमणतामें रहते हैं। जैसे स्वच्छ जलसे भरा हुआ सरोवर, हवा न चलती हो तब, स्थिर दिखता है, उससमय वह पूर्णचन्द्रके बिम्बसे विशेष उज्ज्वल दीखता है, वैसे ही मुनिराज शांत, धीर, गम्भीर, उज्ज्वल समाधिमें मस्त रहकर, जैसे मानों अभी ही केवलज्ञान प्राप्त करेंगे । ऐसे बेहद पूर्णस्वभावमें दृष्टि लगाकर एकाग्र होते हैं। ऐसी अवस्थामें कभी बाघ अथवा सिंह भूखसे गर्जना करता हुआ आये, तो जानते हैं कि परम मित्रका योग मिला है क्योंकि मुझे शरीरको आवश्यकता नहीं है और जो शरीरको अपना नहीं मानता है उसके लिये सिंह शरीरको लेजानेवाला मित्र है। देहसे मेरे दर्शन-ज्ञान-चारित्रका लाभ या नुकसान नहीं है। समयसारमें कहा है "यह शरीर छेदा जाय, भेदा जाय, या कोई इसे ले जाय, या इसे नष्ट कर दे, या इसका चाहे जो कुछ हो किन्तु यह मेरा नहीं है।" शरीरके प्रति जिसे अणुमात्र भी ममत्व नहीं है ऐसी अशरीरी भावनामें रहनेवाले धर्मात्माका भाव कितना उत्कृष्ट होता है, यह देखनेकी चीज है! ऐसे समय श्रीमद् जवाहरातके व्यापारमें थे या आत्मामें ?

जिस समय श्रीमद्ने इस काव्यकी रचना की थी उस समय उनके बम्बईमें जवाहरातका व्यापार था, किन्तु फिर भी सब परिग्रहसे निवृत्त होने और उत्कृष्ट साधक दशाकी भावना भाते थे। इस काव्यका एक-एक शब्द गम्भीर भावार्थ-

युक्त है। वे महावैराग्यवान थे और पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष-स्वभाव-दशा प्रकट करूँ ऐसी भावना-सहित आंशिक स्वरूप की स्थिरताकी सावधानी रखकर मुनित्वकी भावना यहाँ की गई है, इसीलिए श्रीमद् कहते हैं कि इस शरीरकी स्थिति पूरी होने ही वाली है, उसमें निमित्त होनेवाले बाघ सिंह का संयोग मित्र-समान है। संसार-प्रवृत्तिसे अमुक समय तक निवृत्ति लेकर सत्समागम, सत्शास्त्रके अध्ययन, श्रवण, मनन की रुचि न करे तो उनको इस जातिकी भावनाका अंश भी कहाँ से आवे?

श्रीमद् रायचन्द्र, गृहस्थवेशमें होते हुए भी, वीतरागी मुनित्वकी दशा प्राप्त हो एसी भावना भाते थे। मैं जङ्गलमें बैठा होऊँ और हरिण मेरे शरीरको लकड़ी का ठूंठ समझ-कर उससे अपने शरीरकी खाज खुजाते होवें फिर भी क्षोभ न हो ऐसी स्थिरता की भावना करते थे। बाह्यसे योग हो या न हो यह उदयाधीन है, किन्तु इस अशरीरी भावकी स्वीकारता तो उत्पन्न करो। पुरुषार्थ करना उदयाधीन नहीं है, किन्तु अपने आधीन है। ऐसी उत्कृष्ट भावनाका उत्साह धर्मात्माको आता ही है।

संसारी जीवोंको बाह्य संयोग, उपाधिरूप वैभवका उत्साह होता है कि मेरे बङ्गला हो, मेरे टेबिल, कुर्सी, गद्दी, तकिया, पंखा वगैरह हों। उनमें मोहाभिभूत होकर हर्ष-अनुभव हो ऐसी विपरीत भावना वे करते रहते हैं, क्योंकि उनके संसारका ही अपार प्रेम-तृष्णाभाव रहता है। जो पर-वस्तुमें सुखबुद्धि करने और रागी-द्वेषी बननेमें ही संतोष मानता हो उसके रागरहित, पवित्र आत्माकी रुचि, श्रद्धा कैसे हो?

एक बार एक भाई श्रीमद्के पास गये और उनके सम्मुख गद्दी पर बैठकर बीड़ी पीते-पीते पूछा—"आप ज्ञानी हैं इसलिए बताइये कि मोक्ष कैसे मिले।" श्रीमद्ने उसे उत्तर दिया—"ऐसेको ऐसा।" इस उत्तरसे दो अभिप्राय प्रकट होते हैं : (१) आप जैसे हैं वैसे हो जाओ अर्थात् स्थिर हो जाओ। (२) दूसरा अभिप्राय यह है कि तत्त्व की रुचिके बिना ज्ञानीके प्रति प्रेम, विनय या बहुमान नहीं होता। शरीरके प्रति आसक्ति रखने वाले, परसे सुख माननेवाले व विषय-कषाययुक्त संसारी रुचिवाले जीवोंको मोक्षकी रुचि कैसे हो? राग, द्वेष तथा देहादिसे सर्वथा छूटना मोक्ष है। त्याग-वैराग्य की भावना बिना तथा देहादिके प्रति ममता या आसक्ति की कमी किये बिना कोई शुद्ध आत्माको देखना चाहे तो कैसे देखे? जिसे आत्मभान तो न हो और शरीरके क्षेमकुशल रखने की ममता हो उसको रागरहित अतीन्द्रिय आत्माकी श्रद्धा कैसे हो? इसलिए देह की ममता पहले घटानी चाहिए।

श्रीमद्ने इस गाथामें शरीरको छोड़ने की—अशरीरी होनेकी भावनाका वर्णन किया है। उन्होंने कहा है कि सिंहका संयोग होने पर ऐसा मानना चाहिए जैसे कि "परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो" (मानो परम मित्रका संयोग मिला हो)। मेरे तो शरीर रखनेकी इच्छा नहीं और सिंहको शरीर रखनेकी इच्छा है। 'मुझे शरीरके प्रति ममत्व नहीं है, मुझे उसकी आवश्यकता नहीं है'—ऐसा समझकर मेरे शरीरका नाश करनेवाले हे सिंह! तू ही मेरा उपकारी है। श्रीमद् अशरीरी भावकी भावना संसारी वेशमें रहते हुए भी करते थे। केवलदर्शन, केवलज्ञान प्रकट करनेका

प्रयोग विचारते थे। उनकी भावना थी कि ऐसा प्रसंग मिले जिससे कि गजकुमार की तरह मुझे भी शीघ्र ही मोक्ष-स्वभाव प्रकट हो जाय। स्वभावकी रुचिका रसिक पूर्ण वीतराग-स्वरूपकी भावना करता है। संसारकी रुचिवाला मोही जीव विपरीत मनोरथ करता है कि मुझे खूब धन, घर, स्त्री, मोटर, गाड़ी आदि मिले, मेरे धन, वैभव, परिवार खूब बढ़े और मैं लहलहाते, भरे-पूरे खेत आदि को छोड़कर मरूँ। इसके विपरीत ज्ञानी धर्मात्मा यह भावना करता है कि मैं अतिशय-शुद्ध-स्वभाव में स्थिर रहते हुए उग्र पुरुषार्थ करता हुआ दो घड़ीमें केवलज्ञान प्रकट करूं।

मुनि जंगलमें आत्म-स्वरूपके ध्यानमें लीन हों और उस समय सिंह उनका गला पकड़े, तो उस समय केवलज्ञान पर दृष्टि रखते हुए चैतन्यका अतीन्द्रिय असीम पुरुषार्थ प्रकट होता है। सिंहके मुखमें चैतन्य कैसे पकड़ा जाय? चैतन्य तो जो कुछ होता है उसको जानता है। इसीलिए श्रीमद्‌ने कहा कि 'सिंहे पकडयुं गळुं त्यारे ज्ञानीने पकडी अडोल स्थिरता।" श्रीमद्‌ने संसारी वेशमें ऐसी भावना भायी कि कब मैं क्षपकश्रेणी पर चढ़कर अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्रकट करूं। इस प्रकार का अपूर्व भाव कोई लाये तो सही? ॥२१॥

अतीन्द्रिय आनन्दमें लीनता का रसास्वाद-अनुभव बढ़ने पर शुभाशुभ इच्छाओंका निरोध होता है, कहा भी है 'इच्छानिरोधः तपः'। श्रीमद् तपश्चर्यामें भी उत्कृष्टता दर्शाते हैं:—

घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं,
सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्नभाव जो;

रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो ॥अ० १२॥

स्वरूप–रमणतामें प्रवर्तमान साधक जीवको उग्र पुरुषार्थके बढ़ने पर निर्ग्रंथ मुनि-अवस्थामें कभी-कभी ऐसा अवसर आता है कि दो-दो महीनों तक अनाहारक स्थिति हो जाती है। कभी-कभी ६ महिना तक भी आहार छूट जाता है, किन्तु मनमें किसीप्रकारका ताप नहीं होता। शरीरके कृश होने की ग्लानि नहीं, खेद भी नहीं, उल्टे निश्चल समताकी वृद्धि होती है। सहज आनन्दसागर-दशामें झूलते हुए खेदका अंश भी कैसे हो? ऐसी साधक दशा को धन्य है!

संसारी जीव मोक्ष चाहते हैं, किन्तु एक दिवस भूखे रहने का अवसर आजाय तो कंपकंपी होती है और खाने-पीने को लोलुपता के वश होकर आगे-पीछे की तैयारी करनेमें अनेक प्रकारके नाटक करते हैं। परन्तु मुनि आत्माके भानसहित स्वरूपकी लीनतामें स्थिर रहता है तब कभी छह-छह माह कैसे पूर्ण हुए, इसके स्मरण करनेकी वृत्ति तक उसके नहीं रहती।

स्वरूपमें निश्चल रहनेमें एक क्षणमात्रका भी विराम न होने, दूँ ऐसी जिनकी भावना थी ऐसे महर्षियोंमें श्रेष्ठ तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे। वैशाख शुक्ला ३ को वे संसार छोड़कर निष्परिग्रही बनकर जंगलमें चले गए थे। दीक्षाके समयमें उनके वह चौथा मनःपर्ययज्ञान प्रकट हुआ जो कि उसी भवमें मोक्षतक जाता है। अकषायी स्थिरताका अभ्यास बढ़ाते हुए उनके विकल्प हुआ कि छह महिना आहार न ऊँ। छह माह पूरे होनेपर उनके आहार लेनेकी वृत्ति उठो,

किन्तु आहारका योग नहीं बना। फिर छह माह तक आहारका अन्तराय रहा इससे पुनः छह माह आहार नहीं मिला, किन्तु इसका उन्हें खेद नहीं था। इसप्रकार वे आहार बिना बारह महीने तक रहे। ऐसे वीर, धीर, शूरवीर मुनिधर्मके पालनमें सावधान रहते हैं। ज्ञान-दशा तीनों कालमें ऐसी ही होती है। कोई शिथिलताकी बात करे तो वह मोक्षमार्गस्थ नहीं है, क्योंकि आत्मामें असीम अनन्त शक्ति है, वह कभी घटती नहीं है। ३६० दिनोंतक चारों प्रकारके आहार बिना उपवास की स्थितिकी घोर तपश्चर्यामें किसी मुनिका शरीर कमजोर भी दिखे, शरीर अस्थिपंजरमात्र रहते हुए भी अन्तरमें चैतन्यभगवान असीम समतासे तृप्त है। 'मेरे जड़की खुराक नहीं है, शरीरकी स्थिति जैसी रहना है वैसी ही रहेगी, ऐसा वह जानता है। मुनिके असाताका उदय हो तो भूख लगे और साताका उदय हो तो आहार मिले, साताका उदय न हो तो नहीं मिले, किन्तु मनमें दुःख नहीं। जिसे शरीरकी अधिक आसक्ति है वह ऐसा सुनते ही काँपता है, किन्तु जिसे इस मुनिदशाकी तैयारी हो उसके असीम सामर्थ्य तैयार रहती है; पीछे वैसा योग बने या न बने यह अलग बात है, किन्तु भावना हल्की कैसे हो? आत्मा अन्तरंग में असीम सामर्थ्यसे प्रत्येक समय परिपूर्ण रहता है, इसलिये उसकी भावना भी उत्कृष्ट ही होनी चाहिए।

संसारी जीव ममताके वश होकर पूर्णताकी इच्छा करते हैं और इसीलिए विवाहके गीतोंमें गाया जाता है कि- 'मैं तो थाल भर्यो सग (परिपूर्ण) मोतीए'। चाहे थालका ठिकाणा नहीं हो, चाहे उसमें एक भी मोती नहीं हो, किन्तु

मनोरथ तो मोतियों से परिपूर्ण थाल का ही है। इस प्रकार ममताकी शिखाएं भी पूर्णता चाहती हैं, अधूरापन नहीं। जीव विपरीतताकी उत्कृष्टता चाहता है, इसलिये वह अनन्त तृष्णा द्वारा अपनेको पूर्ण करना चाहता है। मोक्षका इच्छुक संसार-भावसे पलट कर सबल बना और ऐसा होकर पूर्ण समताकी यह भावना करता है कि "सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।" मेरा पूर्ण शुद्धस्वरूप शीघ्र प्रकट हो। यह भावना अखण्डरूपसे जहाँ होगी वहाँ वह संसारके भावको नहीं रहने देगी। जहाँ अनाहारक-चैतन्यकी रमणतामें बेहद पुरुषार्थका उद्यम हो वहाँ ऐसी अपूर्वदशाका अंश प्रकट कर धर्मात्मा उसी भावनामें रहता है। उत्कृष्ट साधक दशाका उत्कृष्ट पुरुषार्थ पूर्ण होने पर सादि-अनन्तकाल पर्यंत शाश्वत निराकुल अनन्तसुख रहता है। अज्ञानी जीव मुनि-अवस्थामें घोर परिषहकी बात सुनकर व्याकुल होता है, जब कि धर्मात्मा-सम्यग्दृष्टि वैसे घोर तप और परिषहके सम्मुख कहता है कि मेरे में अनन्त शक्ति है। एक समयकी अवस्थामें भी अनन्त समता भरी हुई है। अनन्त काल भी ज्ञातारूपमें स्थिर रहने का अनन्त सामर्थ्य चैतन्यमें है। स्वभावकी क्या सीमा? जिसका अनन्त स्वभाव है उसमें सीमा नहीं होती।

चैतन्य अनादि-अनन्त, असीम सामर्थ्यसे पूर्ण, ज्ञानघन है। 'मैं शरीर नहीं हूँ, उस शरीरके कारण मुझे किसी प्रकारका नफा-नुकसान नहीं है। घोर तपस्यासे शरीर जीर्ण हो जावे। जैसे सूखे कोयले अथवा लकड़ी गाड़ोमें भरे हों और वे खड़खड़ाएँ, वैसे ही छह-छह महिने उपवास सहज ही हो जाने पर शरीरकी हड्डियाँ बजने लगें,-ऐसी भावना

श्रीमद् संसारमें रहते हुए करते थे। यह भावना भाते हुए वे भोजन करते थे या तपस्या करते थे? वास्तवमें यह भावना सच्ची-दृष्टिपूर्वक श्रावक-अवस्थामें की जानी चाहिए और उत्कृष्ट रूपमें करनी चाहिए। 'अपूर्व अवसर' पुरुषार्थसे सुलभ होता है और बेहद चैतन्य-शक्तिका अनुभव बढ़ने पर जीव अपनी शक्तिको छिपाता नहीं।

'सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्न भाव जो'—मेरे में ही अनन्ततृप्ति है तो फिर किससे तृप्त होऊँ? मुनिको किसी समय आहारकी वृत्ति आई और चक्रवर्ती राजाके यहाँसे उनको आहार-दान प्राप्त हुआ जिसमें पुष्ट और सुन्दर आहार मिला, किन्तु उससे उनमें प्रसन्नताका विकल्प नहीं है। ऐसी उत्कृष्ट समभावी दशा मुनिके सहज ही होती है। चक्रवर्ती राजाके खीरका अति उत्तम भोजन होता है। कभी उस आहारको लेनेका योग बने तो उसमें ज्ञानमस्त मुनिको प्रसन्नताका भाव नहीं होता। शरीरको आहारकी प्राप्ति उदयाधीन अर्थात् प्रारब्ध-अनुसार होती है। साताका उदय हो और शरीर रहना हो तो आहार मिले ही, उसमें हर्ष कौन करे? अन्तरंगमें परम संतोषामृतका स्वाद होनेसे मुनिको आहारके प्रति राग नहीं है। जिसे विषय, कषाय और आहारकी लोलुपता है उसके, हाफुस आम देखकर, मुंहसे लार टपकती है और उसका स्वाद लेनेके लिए व्याकुल होता है और वह खाते समय हर्ष मनाता है। जब निर्ग्रंथ मुनिको छह-छह माहके उपवासके पारणेमें संयमके हेतु निर्दोष आहारकी इच्छा हो तब आहार सरस मिले या नीरस, किन्तु उसमें प्रसन्न नहीं होता। जिसे देहादिमें सुखबुद्धि है ऐसे संसारी जीवको आहारादिमें

गृद्धता होनेसे सरस भोजनकी इच्छा होती है। मुनि तो ऐसी भावना करता है कि मेरे अनाहारक स्वभावमें ज्ञानकी स्थिरताके सिवाय कुछ भी उपाधिभाव नहीं होना चाहिए। मेरे स्वरूपकी रमणतामें, शांतिमें इस क्षुधाकी पीडाका विकल्प कैसा? सब छूट जाओ। मैं असंग हूँ इसलिये समाधिस्थ, स्वरूपस्थिरता-रमणताका अपूर्व अवसर कब आवेगा? ऐसी भावना यहां की है।

"रजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो।"

अति मलिन एक रजकणसे लेकर पुण्यमें उत्कृष्ट वैमानिक देवकी ऋद्धि तक सब पुद्गलकी विकारी पर्याय हैं, वे मेरे चैतन्यका लाभ करनेवाली नहीं है। वैमानिक देवके पुण्यकी ऋद्धि, सूर्य-चन्द्र आदि देवोंकी पुण्यकी ऋद्धिसे बहुत अधिक होती है, उसका वर्णन शास्त्रमें हैं। वहाँ अति उज्ज्वल अत्यधिक पुण्यके समूहका योग है। उनसे भी अधिक पुण्यके कर्मरजकणोंका योग हो तो भी मुनिको उनकी महिमा नहीं है।—क्योंकि वह तो ज्ञाता रहकर जानता है कि पुद्गलकी अनेक विचित्रताओं से चैतन्यका अंशमात्र भी गुण नहीं है। उनमें रागद्वारा वह अटके तो उसके उपाधिका बन्धन हो। अपना जो अनन्तसुखस्वरूप लक्ष्यमें है उसे पूर्ण करनेका पुरुषार्थ और स्वरूप प्रकट करनेका उत्साह रहता है, किसी निमित्तमें अटकनेका भाव उसके नहीं है। इस १२ वीं गाथा पर्यंत चारित्रमोहको क्षय करनेकी भावना है।

अब शेष नौ गाथाओंमें सूक्ष्म चर्चा है। एक-एक शब्द ऊपर विस्तार करनेसे दिवस बीत जायें, इसलिये संक्षेपमें

कथन करना पड़ता है; उसमें जो आशय हो उसको विचारना चाहिए। अहा! सर्वथा कषायक्षयकी चर्चा आनेवाली है। इस कालमें इस क्षेत्रमें मोक्ष-प्राप्ति नहीं है, किन्तु फिर भी १२वीं गाथामें वर्णित सातवें गुणस्थानका चारित्र प्रकट करे तो उसे मोक्ष प्राप्तिका भी समय आ सकता है।

आगेकी नौ गाथाओंमें वर्णित क्षपकश्रेणी, शुक्लध्यानका पुरुषार्थ इस कालमें नहीं है, तो भी भावना तो भाई जा सकती है। प्रथम आत्माकी सच्ची पहचान और श्रद्धाको दृढ़तर करनेका पुरुषार्थ और अभ्यास करना चाहिए। सत्समागम बिना अपूर्व अवसरकी प्राप्ति नहीं होती। जैसे सेनामें नौकरी करनी हो तो उसे सर्वप्रथम निशानेबाजी सीखनेका अभ्यास करना पड़ता है और वह अभ्यास मौके पर काम आता है, वैसे ही धर्मात्मा मुमुक्षुको प्रारम्भसे ही तत्त्वज्ञानके अभ्यासपूर्वक अपूर्व अवसरकी भावनामें लीन होना चाहिए।

सम्यग्दर्शन होनेके बाद मुमुक्षुकी चारित्रकी भावना दृढ़तापूर्वक बढ़ती जाती है—और अनाहारक, अशरीरी कैसे होऊँ यह विचार आता है। बहुतसे लोग मानते हैं कि आहार बिना शान्ति नहीं होती, किन्तु बहुतसी बार देखा जाता है कि आहारके बिना अशान्ति भी नहीं होती। जैसे कि व्यापारमें एक घण्टेमें सौ रुपयेका लाभ दिखता हो तो संसारी जीव लोभके वश एक समयका भोजन करना भूल जाय और कहे कि आज भूख नहीं लगी। इसी प्रकार संसार-भावरहित अपूर्व आनन्दका अवसर पाकर अकषाय, अलोभ दृष्टिके लक्ष्यमें आहार सहज ही छूट जाता है। संसारी जीव अरगुणके लक्ष्यमें आहार लेना भूल जाते हैं, उसी प्रकार

साधक जीवोंके अनाहारक शुद्धस्वभावके लक्ष्यमें अकषायसे परिपुष्ट पुरुषार्थकी जागृतिसे छह-छह महीना आहार सहज छूट जाता है—आहारकी इच्छा भी नहीं होती। ऐसी दशामें आत्मशान्ति या परम संतोष होता है, उससे बाह्यवृत्ति या आकुलता नहीं होती।

ऋषभदेव भगवानको बारह मासके पारणेमें ईखका रस मिला था, किन्तु अन्तरंगमें अखण्ड समताकी मुख्यता होनेसे हर्ष नहीं था। भक्त हर्षसहित भावना करते हैं कि वह धन्य घड़ी कब होगी जब वे सुपात्रको आहारदान दें। उनके निमित्तसे मुनिश्वरको संयम-साधनका पोषण मिले, उसमें भाव यह है कि— वीतराग भाव सदा बना रहे जिससे दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि संयमकी पुष्टि हो। इस प्रकार भक्तिभावसे भक्त हर्ष मनाये और भावना भावे कि ऐसा अपूर्व अवसर मुझे कब आवेगा? ॥१२॥

अेम पराजय करीने चारित्र मोहनो,
आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो।
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो ॥अपू०॥१३

इस प्रकार जो चारित्रमोह या अस्थिरताका निश्चय अचल स्वरूपकी स्थिरता द्वारा क्षय करनेका पुरुषार्थ प्रकट करता है उसके बुद्धिपूर्वक विकल्प नष्ट होकर स्थिरता विकसित होती है, उस स्थितिको अप्रमत्त दशा कहते हैं। छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें अनन्तानुबंधी आदि तीन कषायोंकी चौकड़ीका अभाव रहता है, किन्तु चारित्र गुण में कुछ

मलिनता रहती है। अप्रमत्त गुणस्थानमें बुद्धिपूर्वक विकल्प या रागका अंश नहीं रहता, किन्तु सूक्ष्म कषाय-अंश रहता है जो केवलीगम्य है। इससे आगे आठवें गुणस्थानमें क्षपक-श्रेणीका प्रारम्भ है। वहाँ उपशम नहीं है किन्तु चारित्र-मोहको क्षय करनेरूप क्षपकश्रेणीका उग्र पुरुषार्थ है। क्षपक-श्रेणी शुक्लध्यानका प्रथम चरण है। इस गुणश्रेणीमें प्रति समय अनन्तगुणी परिणाम-विशुद्धि बढ़ती जाती है। जैसे स्वर्णको शुद्ध करते समय भट्ठीमें १५वें तावके बाद १६ वें तावके अन्तमें उसे पूर्ण शुद्ध पाते हैं, वैसे ही १२वें गुण-स्थानमें शुक्लध्यानका दूसरा चरण शुरू होनेके बाद १३वें गुणस्थानमें ४ घातिया कर्मोंका नाश होकर सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान प्रकट होता है। सर्वज्ञ प्रभुके उस केवलज्ञानमें एक समयमें सर्व विश्व (सर्व जीव-अजीव वस्तु सामान्य-विशेषरूपसे) प्रतिभासित होता है। इस केवलज्ञानका स्वरूप युक्ति, आगम और स्वानुभवसे सिद्ध है।

यहां चारित्रमोहके क्षय और शुक्लध्यानकी क्षपक-श्रेणीके उग्र पुरुषार्थकी चर्चा है। बारहवें गुणस्थान तक जीवकी साधक दशा है। चारित्रमोहका उदय दसवें गुण-स्थान तक रहता है। ग्यारहवें गुणस्थानमें चारित्रमोहका उदय नहीं होता, बारहवें गुणस्थानमें चारित्रमोहका सर्वथा क्षय होता है। यह जीव आठवें गुणस्थानसे क्षपकश्रेणी प्रारम्भ कर बीचमें नहीं रुकता हुआ और आगे बढ़ता हुआ दो घड़ीमें केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्त वीर्य—जो शक्तिरूपमें अवस्थित थे—उनको प्रकट करता है। जिसे उस उत्कृष्ट अपरिमित सुख की रुचि हुई है उस साधकके कहीं रुकनेकी प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकारका निर्ग्रंथ

मुनिमार्ग ही तीनों कालमें सनातन मोक्षमार्ग है। विदेह-क्षेत्रमें भी त्रिकाल यही मुनिमार्ग है।

"करण"का अर्थ 'परिणाम' है। चारित्रके 'अपूर्व-करण'का अर्थ है पूर्ण स्थिरता लाने तथा केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट करनेका प्रयोग, अर्थात् स्वरूप-स्थिरताकी श्रेणीमें आरूढ़ होना। सम्यग्दर्शन होनेसे जो अपूर्वकरणरूप परिणाम होता है उसकी यहाँ बात नहीं है। इस अपूर्वकरणमें समय-समयमें अनन्तगुणी शुद्धिकी वृद्धि द्वारा जीव पूर्ण अकषायस्वरूप बनानेवाले पुरुषार्थको करनेके लिए शुक्ल-ध्यानकी श्रेणीमें प्रवेश करता है। इस अपूर्वकरणमें पहले नहीं हुई ऐसी विशुद्ध परिणामोंकी एकाग्रता रहती है। इस स्वरूपस्थिरतामें एकाकार, तन्मय, अखण्ड, धाराप्रवाही ज्ञानकी एकाग्रता और गुणकी उज्ज्वलता प्रतिक्षण बढ़ती जाती है।

जो कुछ चारित्र-मलका सूक्ष्म उदय होता भी हो, तो उसे भी क्षपकश्रेणीद्वारा टालता हुआ साधक स्वरूप-श्रेणीकी लीनतामें आरूढ़ होता हुआ "अनन्य चिन्तन अतिशय शुद्ध स्वभाव"की दशा प्रकट करता है। यहाँ बिलकुल एकरूपता रहती है।

कुशल घुड़सवारको लाख रुपएके मूल्यवाले घोड़े पर आरूढ़ होनेके बाद पाँच गाँवका अन्तर पूरा करनेमें कितनी देर लगे? उसीप्रकार अपूर्वकरणकी स्थिरता द्वारा स्वरूप-रमणतामें जो साधक एकाग्र हो गया उसे केवलज्ञानकी प्राप्तिमें कितनी देर लगे? नहीं लगे। अनन्य चिंतन द्वारा अतिशय शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूपमें मेरी लीनता बढ़ती

जाय और उसमें आरूढ़ होकर क्षपकश्रेणी शुरू करूँ ऐसा अवसर शीघ्र प्राप्त हो, यह भावना श्रीमद्ने इस पदमें की है॥१३॥

[ता० ५-१२-३९]

अब श्रीमद् १४वीं गाथामें केवलज्ञान प्रकट होनेकी भावना करते हैं :—

मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो।
अंत समय त्यां पूर्णस्वरूप वीतराग थई,
प्रकटावुं निज केवलज्ञान निधान जो ॥अपू०॥१४॥

जैसे राजमहलमें जानेके लिए सीढ़ियाँ होती हैं, वैसे ही अपने सहजस्वरूप स्वराज-महलमें जानेवालेका लक्ष्य अपना पूर्ण पवित्र मोक्ष-स्वरूप है। जैसे महलमें जाने के लिये नीचेकी सीढ़ियाँ छूटती जाती हैं, वैसे ही स्वराज-महलमें जानेके लिये चौदह गुणस्थानरूप सीढ़ियाँ हैं।

पहला गुणस्थान मिथ्यात्व है। उस गुणस्थानवाले बहिरात्म जीवोंको अपने वास्तविक आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं है। बहिरात्मा यह नहीं मानता कि मैं केवल ज्ञाता-दृष्टा, वीतराग, चिदानन्द, शाश्वत हूं। मेरे में ही स्वाधीन सुख, बेहद आनन्द-शान्ति है ऐसा उसे विश्वास नहीं होता। वह देहादि, रागद्वेष, पुण्य-पापको अपना मानता है। वह देहादि बाह्य-संयोगोंमें इष्ट-अनिष्ट और सुख-दुःखकी मिथ्या कल्पना कर रागद्वेषका कर्ता और हर्ष-शोकका भोक्ता बन जाता है। वह मोही जीव जो कुछ मानता है, जानता है,

आचरण करता है वह सब उल्टा है, इसलिये उसके दर्शन, ज्ञान एवं आचरण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्र होते हैं, उसके श्रद्धा, ज्ञान और आचरण असत्य हैं।

दूसरा गुणस्थान चौथे गुणस्थानसे वापस आनेवालोंके होता है। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शन होकर शुद्ध आत्म-स्वरूपका ज्ञान होता है। जब देहादि तथा रागादिसे भिन्न केवल चैतन्य-स्वरूपका ज्ञान होता है तब स्वानुभव-स्वरूपा-चरण प्रकट होता है, किन्तु चारित्रगुण पूर्णरूपसे प्रकट नहीं होता।

पाँचवाँ देशविरति गुणस्थान है। उसमें आंशिक स्थिरता है, वह देशविरति कहलाता है। उसके बाद छठे व सातवें गुणस्थानमें सर्वविरतिरूप मुनिपणा है।

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थानमें जिसके क्षपकश्रेणी होती है उसके अतिशय शुद्ध स्वभावमय पवित्र दशा बढ़ती जाती है। तत्पश्चात् क्रमशः नववाँ एवं दसवाँ गुणस्थान होता है। वहाँ से सीधा बारहवाँ गुणस्थान होता है। वहाँ मोहका क्षय कर जीव तेरहवें गुणस्थानमें सयोगी केवली, जिन, वीतराग, सर्वज्ञ भगवान होता है तब उसके अनन्तचतुष्टय पूर्णरूपसे प्रकट होते हैं। गाथामें बारहवें क्षीणमोह गुण-स्थानके अंतिम समयकी बात है—

श्रीमद्ने मोहको स्वयंभूरमण समुद्रकी उपमा दी है। उस समुद्रका माप असीम विस्तारवाला है। दो हजार कोस का एक योजन और ऐसे असंख्यात योजनका यह महासमुद्र है। इस मध्यलोकको तिर्यक्लोक कहनेमें आता है और उसके मध्यमें जंबूद्वीप एक लाख योजनके विस्तारवाला

थालीके आकार है। उसके आगे एक-दूसरेको घेरे हुए वलयाकार असंख्यात द्वीप-समुद्रोंकी परंपरा है। उसमें अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र है।

साधक यह विचारता है कि जैसे मोह महासमुद्र-जैसा है वैसे ही मेरे में भी उससे भी अनन्तगुणी अपरिमित बेहद शक्ति है, इस कारण मैं प्रगटदशामें आत्माकी इतनी असीम स्थिरताको बढ़ाऊँ कि उससे मोह सर्वथा दूर हो जाय, और मैं जैसा शुद्ध पवित्र ज्ञानघन हूँ वैसा प्रगट दशामें भी बना रहूँ, स्वरूपमें अत्यन्त सावधानी रखूँ जिससे चारित्रमोह स्वयं क्षय हो जावे।

अज्ञानी मोही जीव अनादि कालसे अपनी भूलके कारण संसारमें भ्रमण करता है। वह परद्रव्य-परभावमें अपनत्वका भ्रम करनेसे अपनेमे सुख-शांतिका अभाव हुआ है यह नहीं मानता। उसने परवस्तु में सुख-शांतिकी कल्पना की है। जीव अपनी भूलसे रागद्वेष, अज्ञान द्वारा महा अविवेकी हुआ है। साधक जीवने उस भूलको सत्समागम और सद्-विवेक द्वारा दूर किया है। चारित्रमोहकी शक्तिके सम्बन्ध-में वह कहता है कि उस मोहकी शक्तिसे अनन्तगुणी शक्ति चैतन्यमें है, किन्तु थोड़ी-सी अस्थिरता है उसको दूर कर क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर आठवें, नवमें, दसवें गुणस्थानमें जाकर अतिशय शुद्ध स्वभावकी अधिक उज्ज्वल स्थिरताको बढ़ाते हुए चारित्रमोहका क्षय कर 'क्षीणमोह' नामक १२वाँ गुणस्थान प्राप्त करूँ। इसीसे पूर्ण स्थिरता अर्थात् शुद्धस्व-भावकी लीनतामें अकेले चैतन्य आनन्दघन शांत रसका अनुभवन होता है।

जब वीतरागदशाके पूर्ण करनेका वीर्य स्वस्वरूपमें बढ़ता

है तब उसके "प्रकटावुं निज केवलज्ञान निधान जो" ऐसी दशा होती है। जो शक्तिरूपमें है उसे पूर्णरूपसे प्रकट करना है, फलतः अनन्त आनन्द और केवलज्ञान-लक्ष्मी प्रकट होती है।

केवलज्ञानमें परको जाननेका लक्ष्य या विकल्प नहीं है, फिर भी पर जाना जाता है ऐसा सहज स्वभाव है। आत्म-स्वभावमें अपरिमित केवलज्ञान भरा हुआ है। उस पूर्णताके लक्ष्यमें पुरुषार्थ कर पूर्ण स्थिर होऊँ, तो केवलज्ञान-ज्योति और वीतराग सर्वज्ञ परमात्मपद प्रकटे, ऐसा साधक जानता है। पूर्ण शुद्ध चेतना-स्वरूप और केवलज्ञान-निधान जीवके लक्ष्य हैं। केवलज्ञानको 'अनन्तचक्षु' या 'सर्वचक्षु' भी कहा है।

केवलज्ञानमें लोक-अलोक (सम्पूर्ण विश्व), अणु की तरह, त्रैकालिक द्रव्य-गुण-पर्यायसहित एक समयमें स्पष्ट दिखता है। यह अचिंत्य असीम ज्ञानशक्तिवाला केवलज्ञान प्रत्येक चैतन्यमय आत्माके स्वद्रव्य और स्वभावमें त्रिकालशक्तिरूपसे विद्यमान रहता है, उसका किसी भी समय अभाव नहीं है। "सर्व जीव छे सिद्ध सम, जे समजे ते थाय।" गृहस्थावस्थामें पूर्णताके लक्ष्यसे यह भावना की है कि मैं जल्दी केवलज्ञान-लक्ष्मी प्रकट करूँ। साधक सर्वप्रथम सिद्धपरमात्मा जैसा शुद्ध-आत्मस्वरूप है वैसा यथार्थरूपसे जानकर, परमपद प्राप्तिकी भावना करता है।

सब प्रकारसे त्रिकाली आत्मद्रव्यको जैसा है वैसा जाननेसे ही सच्चा समाधान होगा और उसीसे अज्ञानमय रागद्वेष भी नहीं होगा। "आकुलता (अशान्ति) रहित केवल

समता अर्थात् असीम आनन्दमय परम सुख मेरे में ही है" जिसे ऐसा यथार्थ अनुभव (स्वसंवेदन) होनेके बाद बाह्य-वृत्तिकी तरफ रुचि नहीं रहती उसे ही केवलज्ञान की भावना होती है। 'इस स्वरूपकी पूर्णता जल्दी प्रकटे' यह भावना इस गाथामें की गई है।

केवलज्ञान प्रकट होने पर आत्माकी कैसी दशा होती है, यह बताते हैं:—

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां,
भवना बीजतणो आत्यन्तिक नाश जो;
सर्वभाव-ज्ञाता-द्रष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य-अनन्त प्रकाश जो ॥अपू०॥१५॥

तेरहवें गुणस्थानमें आत्माकी पूर्णशुद्ध, पवित्र केवलज्ञानदशा प्रकट होती है, चार घातिया कर्मका नाश होता है। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यकी हीनतामें चार घातियाकर्म—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय— क्रमशः निमित्त हैं। आत्मा स्वयं विपरीत परिणमे तो वे 'निमित्त' कहलाते हैं। कर्म घनघाती है, तो आत्मा ज्ञानघन है। कर्मका स्वभाव बन्धरूप है तो आत्माका स्वभाव मोक्ष है। जिसने इस स्वभावको पहचान लिया उसे जड़कर्मका बल नहीं दिखता। तेरहवें गुणस्थानमें चार घातिया कर्मोंका क्षय होता है और उससे संसारके बीजका नाश होता है। चार अघातिया कर्म—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र—जली हुई रस्सीकी तरह रहते हैं, इसलिये वे स्वरूपको विघ्नरूप नहीं हैं।

"सर्वभाव-ज्ञाता-द्रष्टा सह शुद्धता"—निश्चयसे निज-स्वभावके केवल अखण्ड ज्ञान वर्तता है ऐसा समझना वास्तविक परमार्थ है। अज्ञानी मानता है कि केवलज्ञान होनेसे लोक और अलोक दिखते हैं, उसको लोकालोक देखनेमें ही माहात्म्य लगता है, यह उसकी बाह्यदृष्टि (व्यामोह) है। दूसरे ज्ञेयोंको जाननेका व्यामोह पराश्रित भाव है। अंतरंग चेतनमें, स्वज्ञेयमें जानने-योग्य कुछ नहीं है ऐसा अज्ञानी मानता है, जब कि ज्ञानीकी अपने स्वरूपके अखण्ड ज्ञान ऊपर दृष्टि है। 'परज्ञेयोंका जानना केवलज्ञान है' यह निमित्तका उपचार-कथन है। अपने पुरुषार्थसे पूर्ण केवल-ज्ञान स्वाधीनरूपसे प्रकट होता है, उसमें परको जाननेकी इच्छा नहीं है। जब 'केवल'—अपने स्वभावका अखण्ड निर्विकल्प—'ज्ञान' रहता है तब परवस्तु अर्थात् जगतके अनन्त पदार्थ उस निर्मल ज्ञानमें सहज ही जाने जाते हैं, इसकी सिद्धि इस गाथामें की गई है।

"सर्वभाव-ज्ञाता-द्रष्टा सह शुद्धता", अर्थात् सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव एक समयमें उस केवलज्ञानमें सामान्य और विशेषरूपसे एकसाथ सहज ही जाने जाते हैं।

जगतमें अनन्त जीव और अजीव हैं, वे सब स्वतंत्र द्रव्य हैं, उनमें से प्रत्येक द्रव्यमें सामान्य और विशेषपना है। सामान्य सत्ताके अवलोकन-व्यापाररूप दर्शन-उपयोगमें सर्व विश्वको देखना सहज ही हो जाता है। उसीसमय उन सभी द्रव्योंकी एक समयमें होनेवाली उत्पाद-व्यय-स्वरूप अवस्था-विशेष भी ज्ञानोपयोगमें सहज ही झलक जाती है। इसतरह अपना अखण्ड ज्ञान-दर्शन एकसाथ प्रवर्तता है।

आत्माकी श्रद्धा होनेके बाद स्वरूपकी रुचि और भावना (एकाग्रता) बढ़ते-बढ़ते अखण्डताके अवलम्बन द्वारा पूर्ण-शुद्धता प्रकट होती है। तेरहवें गुणस्थानमें भावमोक्ष-दशा है। उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यकी दशा ही "सह शुद्धता" है। अनन्तवीर्य पूर्ण-रूपसे प्रकट हुआ है, इसीसे "कृतकृत्य प्रभु वीर्यअनंत प्रकाश जो" यह दशा होती है। यह वीर्यगुण आत्माके सर्व गुणोंको स्थिर रखनेवाला है; ऐसा कृतकृत्य वीर्य (स्वरूपका बल) उस सहज स्वभावमें एकरूप है।

प्रश्नः—यह पूर्ण कृत्यकृत्य शुद्धस्वभाव कैसे प्रकट हुआ, अर्थात् प्राप्तकी प्राप्ति कौन-से क्रमसे हुई?

उत्तरः—जीव अनादि कालसे भेदज्ञानरहित होने के कारण देहादि, पुण्य–पाप, रागादि जड़ कर्ममें एकत्वबुद्धिसे (ये मेरे हैं, ऐसी मान्यतासे) अहंभावपूर्वक बन्धनमें रुका था। उसके, सत्समागम द्वारा आत्माके शुद्धस्वरूपकी यथार्थ प्रतीति करने से, स्व और परका विवेक जागृत हुआ और उसने स्वानुभवकी दशा उत्पन्न की। 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसी यथार्थ श्रद्धा और भेदज्ञान-सहित स्थिरताके अभ्यास द्वारा चारित्रमोहका क्षय कर उसे निराकुल आनन्द, बेहद सुख-शान्ति-स्वरूपकी प्राप्ति हुई, क्योंकि भावमोहका अभाव होजाने से ऊपरका आवरण नहीं रहा।

बारहवें गुणस्थानसे चारित्रमोहका क्षय होजानेसे पूर्ण वीतरागतारूप शुद्धता प्रकट होती है। अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यकी पूर्ण शुद्धता प्रकट होनेमें अन्तर्मुहूर्त लगता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और

अन्तरायका क्षय हो जाता है। अनन्त-चतुष्टयमय सुप्रभात-रूपी केवलज्ञान-ज्योति प्रकट होती है। रागद्वेषरूप मोहकर्म का सर्वथा क्षय होजानेसे वह 'जिन' कहलाता है। पूर्ण कृतकृत्य होनेसे वह 'परमात्मा' कहलाता है; ईश्वर, शिव-स्वरूप, जिनेश्वर, भगवान, वीतराग आदि अनेक नामोंसे सम्बोधित होता है। सम्पूर्ण ज्ञानदशाको 'सर्वभावांतरच्छिद्' भी कहते हैं। उसका अर्थ यह है कि केवलज्ञानमें स्वयं और स्वयंसे भिन्न समस्त जीव-अजीव चराचर पदार्थ तथा उनके समस्त क्षेत्र, काल, भाव एक ही समयमें स्वाभाविक-रूपसे सामान्य और विशेषरूपसे स्पष्ट जाने जाते हैं।

निश्चय से, अपने अंतिम पुरुषाकार अरूपी ज्ञानपिंडमें केवल निज स्वभावका अखण्ड ज्ञान-दर्शन एक ही समयमें रहता है। देह रहते हुए जीवके जो सर्वज्ञदशा होती है वह तेरहवाँ गुणस्थान है। 'केवलज्ञान अनंतको जानता है, केवलज्ञानमें सम्पूर्ण सर्वज्ञता नहीं है' इस मान्यताका निरा-करण उक्त कथनसे होता है।

'एक ही आत्मा नहीं, अपितु अनन्त आत्माएँ हैं' यह भी सिद्ध हुआ। अजीव-अचेतन पदार्थ भी अनन्त हैं। ईश्वर, सर्वज्ञ, भगवान या परमात्मा जो कुछ कहो, 'वह जगतकी व्यवस्थाका करनेवाला नहीं है' यह भी साथमें सिद्ध हुआ। "मैं शुद्ध हूँ" ऐसी जिसे आत्माकी अपूर्व रुचि है वह देहादि बाह्य-निमित्तको तथा काल-कर्मके कारणको नहीं देखता किन्तु वह पूर्ण शुद्धस्वरूप प्रकट करनेकी ही भावना निरन्तर करता है।

यदि संसारकी रुचिवालेके कभी पुण्ययोगसे एक बच्चा

हीं हो जाय तो उसको उस बच्चेका विवाहोत्सव करनेका उल्लास बहुत दिन पहले ही शुरू हो जाता है और उस सम्बन्धमें काफी चिन्तन होता रहता है। उसकी माँ भी अनेक गीत गाकर प्रेम प्रकट करती है, उसकी आवाज भी बैठ जाती है, वह रात-दिनके जागरण और थकावटको कुछ भी नहीं गिनती। इस विवाह-प्रसंगमें वह बहुत तल्लीन हो जाती है। ऐसा विपरीत पुरुषार्थ संसारकी रुचिवाले करते हैं, वे अन्य बात नहीं सुनते, न याद करते हैं।

अब ऐसी रुचि वाले का दूसरा मोड़ भी देखिये। वह संसारकी रुचिको अपने पुरुषार्थ द्वारा हटाता है। मैं शुद्ध ज्ञानघन हूँ; पुण्य-पाप, रागादि रहित अक्रिय ज्ञानमात्र हूँ' ऐसी यथार्थ श्रद्धा और परसे भिन्नत्वका ज्ञान होनेसे अपने पूर्ण शुद्धस्वरूपको प्रकट करनेकी भावना उत्कृष्ट रुचि द्वारा भाता है। साधक गिरनेकी बात याद नहीं करता और बाह्य देहादि निमित्त-कारणों तथा कालके कारणोंको भी नहीं देखता, क्योंकि उसकी श्रद्धामें अपूर्व मंगलपना है, उसे पूर्ण स्वरूप-प्राप्तिका महान उत्साह रहता है।

देखो तो सही! श्रीमद् गृहस्थावस्थामें थे, उनकी २९ वर्षकी युवा अवस्था थी, फिर भी उनको अपनी भावनामें पूर्ण आत्मा का भान और साधक-स्वभावकी लगन थी। श्रीमद् ५ वर्ष बाद ही समाधिमरण धारण करनेवाले थे। इस अपूर्व जागृतिका कैसा स्वरूप होगा? 'एक भवमें मोक्षस्वरूप प्रकट होगा' ऐसी भावना, इस प्रकारका विश्वास और दृढ़तर उत्कृष्ट रुचि कैसी होगी? ऐसा विचार, मनन चिंतन प्रत्येक आत्माको करने योग्य है। यथार्थ श्रद्धा होनेके बाद उसकी रुचि और प्राप्तिके लिये पुरुषार्थ बढ़ता जाता है।

इसप्रकारकी प्रगट चारित्र दशा (निर्ग्रंथ मुनिदशा) वर्तमानमें न हो सके यह भिन्न बात है, किन्तु उसकी भावना तो अधिकाधिक भायी जा सकती है। सम्यग्दृष्टिके अभिप्रायमें परमाणुमात्र तककी इच्छा नहीं है, उसके देहादि समस्त परद्रव्योंमें निर्ममत्व भाव रहता है। उसके हेय-उपादेयका यथार्थ विवेक रहता है। 'मैं पूर्णशुद्ध सिद्धके समान हूँ, इसलिए वैसा ही बनूँ' इस एकत्वका सम्यग्दृष्टिको सदा आदर रहता है और उसकी भावना भी रहती है। वह पुरुषार्थके अपूर्व अवसरकी भावना तो वर्तमानमें कर ही सकता है।

इस कालमें भी सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकर–प्रभुने एकावतारी जीव बताए हैं। स्वरूपकी यथार्थ श्रद्धा, स्वरूपके लक्ष्यमें जिनआज्ञाका विचार, वीतराग स्वरूपका चिंतवन, स्वरूप-स्थिरताकी उत्कृष्ट रुचि, उनका रात-दिन मनन–अभ्यास, उत्साह, जागृति इस कालमें भी हो सकते हैं। संसारका अणुमात्र भी प्रेम न रहे–ऐसी वीतराग चारित्रकी भावना धर्मात्मा जीव निरन्तर भाता है।

ऐसा धर्मात्मा अपनी कमजोरीसे गृहस्थ दशामें रहता हो, तथापि उस दशामें रहने पर भी उसको एक भवतारी होनेका असंदिग्ध (निःशंक) विश्वास होता है। यह केवल कथनमात्र नहीं है। अपूर्व दशा, अपूर्व विचार और सच्चे आत्मधर्मकी रुचि ऐसे ही जीवको होती है। स्थिर शान्त चित्तसे वही विचार करता है। संसारी जीव संसारकी उपाधिमें सुख मानता है। मान, प्रतिष्ठा, घर, कुटुम्ब और देहादिके व्यवसायकी ममता छोड़कर थोड़ी भी निवृत्ति धारण कर इस तत्त्वका वह विचार भी नहीं करता। संसारी जीवोंमें खोटी प्रवृत्तियोंने जड़ जमा ली है, इससे खाने-पीने आदि अनेक

प्रकारकी शारीरिक प्रवृत्तियोंसे निवृत्ति नहीं मिलती। भोजनमें भी कितनी गृद्धता रहती है। रोजानाके दो-तीन साग आदि विभिन्न प्रकारकी सामग्रियोंसे स्वादकी इच्छाओंके पोषण करनेका बहुत जोर रहता है; स्त्रीको भी रसोईके कार्यसे छुटकारा नहीं मिलता। ऐसे अनेक विषयासक्त परिणामों और व्यवसायोंमें आत्माकी चर्चा किसे सुहावे ?

समस्त संसार दुःखसे ग्रस्त है। उपाधि कितने व्यापक रूपमें है ? उसमें कितनी अशान्ति व्याप्त है ? इतना होते हुए भी देहादिकी ममताके आगे संसारी जीवको उस अशान्ति और दुःखका भान नहीं होता। वह दिन-रात सब्जी, मिठाई तथा मान, प्रतिष्ठा, बड़प्पन आदिका ही विचार किया करता है। विषय, कषाय और देहादिकी आसक्ति कम किए बिना आत्माकी रुचि, सच्ची प्रतीति कैसे हो ? जिसे सत्पुरुषके आश्रयमें चलना हो उसे संसारमें सुखबुद्धिकी ममता छोड़नी होगी। मुमुक्षुके लक्षण धारण करके स्वरूपकी प्राप्तिके लिए सत्समागम और तत्त्वज्ञानका अभ्यास और उसमें दृढ़ होकर, उनके पीछे तीव्र जिज्ञासा और आत्महितका मनन किए बिना सच्चे मार्गका आंशिक भान भी नहीं होता। ऐसी दशामें भवभ्रमणका भय कैसे मिटे ? जो रात-दिवस अपने संसारके अन्त करनेका विचार करते रहते हैं उनके संसारका भय कैसे रहे? वे मुनि धन्य हैं ! वह वीतरागी-दशा धन्य है ! वह अपूर्व अवसरकी स्थिरता-रमणता कब आवेगी ? उनकी ऐसी तैयारी करनेकी यह भावना है।

'रुचि अनुसार वीर्य', अर्थात् जहाँ जिसकी जैसी रुचि हो वहाँ उसका वैसा पुरुषार्थ हुए बिना नहीं रहता। अपनेको जिसकी आवश्यकता है उसका निष्पक्षभावसे निश्चय करना

चाहिए। उसमें विरोधी कारण क्या हैं, इस बातका ज्ञान पहले होना चाहिए।

जिसे सच्चे हित अर्थात् मोक्षपदकी रुचि है उसे संसारके किसी भी पदार्थकी रुचि नहीं होती। यह मेरा शरीर स्थिर रहे, बाह्यकी अनुकूलता मिले तो ठीक रहे, आदि इच्छाएँ करनेका मुमुक्षु जीवको अवकाश ही नहीं मिलता।

आत्माको परसे भिन्न मानते हैं क्या?–यदि हाँ, तो उसका लक्षण क्या है? मैं आत्मा हूँ तो कैसा हूँ? कितना बड़ा हू? और मेरा कार्य क्या है? यह सब पहले निश्चित करना चाहिए, क्योंकि अनन्तकालसे समझमें, माननेमें भूल चली आती है। अपने स्वभावकी खतौनीमें भारी भूल है, जिसमें सारी भूलें समा जाती हैं। मन, वचन और काय आदि जड़की कोई क्रिया चेतनके हाथ नहीं है, क्योंकि अरूपी आत्मा रूपी जड़की क्रिया करे या परकी व्यवस्था करे, यह सर्वथा असम्भव है।

पुण्य-परिणाम, शुभ-अशुभभाव दोनों मोहजन्य हैं, औदयिक भाव हैं, जो बन्धके कारण हैं। शुभराग पराश्रित-भाव होनेसे, उससे अविकारी आत्माको कोई गुण मानना भूल है। पुण्य-परिणामोंको करने योग्य या इष्ट मानना और उनको आत्माके हितमें कारण मानना भूलरूप मान्यता है। ऐसे विपरीत पुरुषार्थसे अबन्ध और शुद्ध आत्माका अंश भी कैसे जागृत हो? बन्ध और कर्मभावसे अबन्ध-निष्कर्म अवस्था कभी नहीं प्रकट होती। इसलिए प्रथम स्व-परकी भिन्नता, विरुद्ध भावकी विपरीतता, स्वभावकी सामर्थ्यता विरोध रहित जानना। आत्माकी यथार्थ श्रद्धा बिना सभी साधन बन्धनस्वरूप हो जाते हैं। 'जड़कर्मों या संसारकी

व्यवस्था आत्मा करता है'–ऐसा मानना चक्रवर्ती राजाके सिरपर मलका बोझा डालने जैसा अनुचित कार्य है। आत्माका 'अबन्ध स्वभाव' है, जिसे जीव अज्ञानभावसे 'बन्धवाला' मानता है। जड़का बन्ध-स्वभाव है, उसका आत्मामें उपचार कर "मैं पुण्य करूँ तो ठीक, इससे आत्माका साधन होगा, गुण होगा," यह जो मानता है उसने स्वगुणका घात किया है। आत्माका भान होनेके बाद 'मैं अबन्ध हूँ, असंग हूँ' ऐसे लक्ष्य-सहित स्थिर ज्ञातापनामें सावधान रहनेका पुरुषार्थ भूमिकानुसार होता है। उसमें तीव्र-कषाय दूर होकर मंद-कषाय, शुभयोग, पुण्यपरिणाम हुए बिना रहते नहीं, किन्तु धर्मात्मा उसमें हित नहीं मानता, क्योंकि अपना सच्चा अभिप्राय तथा पुरुषार्थ अपने पूर्ण शुद्धत्वकी ओर है, उसका पूर्णपद ही लक्ष्य है। उससे नीचे शुभाशुभ भाव होते हैं, उनको वह विवेक सहित जानता है। जो परावलम्बी भाव है वह औदयिक भाव है, उसको करनेयोग्य और ठीक कैसे माने? चैतन्य भगवान देहादिकी क्रियाका कर्ता नहीं है। 'मैं परसे भिन्न केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ' ऐसी श्रद्धा और भावनावालेको अल्पकालमें चारित्रदशा आए बिना नहीं रहती। उसके भावी भवका अभाव ही है।

श्रीमद्‌को सातवें वर्षमें जातिस्मरण-ज्ञान हुआ था। उनकी स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र थी कि कोई भी पुस्तक एक बार पढ़नेके बाद उसे दुबारा पढ़नेकी आवश्यकता नहीं रहती थी। वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ४५ आगम-सूत्र बहुत थोड़े समयमें पढ़ गये थे और उन्हें दिगम्बर सत् शास्त्रोंका अच्छा अभ्यास था। जैन-शासनका रहस्य उनके हृदयमें भरा हुआ था। ऐसी विशाल और तीक्ष्ण बुद्धिवाले श्रीमद्

थे। किन्तु बाह्यमें समाज-स्थिति देखकर स्पष्टरूपमें लिखनेका अवसर न आया। वे लोक-सम्पर्कसे दूर रहना चाहते थे और निरन्तर स्वरूपकी सावधानीका विचार, शास्त्र-स्वाध्याय तथा गम्भीर मनन करते थे और भावना करते थे कि कब निवृत्ति लेऊँ।

धर्मात्मा अपनी अन्तरंगकी स्थिरता बढे बिना हठपूर्वक त्याग कर भागते नहीं, क्योंकि हठसे कुछ नहीं होता। स्वसन्मुखताका पुरुषार्थ बढ़नेपर मुनि-पदकी भावना और मुनित्व आता ही है।

धर्मात्मा गृहस्थको अस्थिरताके कारण शुभ और अशुभ वृत्ति होती है, किन्तु उसका आदर नहीं है। उसकी दृष्टिमें संसारका अभाव रहता है और वैराग्य बढ़ाता हुआ वह मोक्षकी भावना भाता है।

जहाँ जिसकी रुचि हो वहाँ उसकी प्राप्तिका पुरुषार्थ हुए बिना रहता नहीं। धर्मात्माको निवृत्तिका ही विचार आता है, स्वप्न में भी उसका ही विचार होता है। संसारकी ममता कम करके कुछ महीने निवृत्ति लेकर सत्समागम करे और बारम्बार शास्त्रका अध्ययन, मनन और विचार करे तो मोक्षकी रुचि बढ़ती है। तत्वकी यथार्थ रुचि होने पर स्थिरताकी प्राप्तिके' लिए अनन्तवीर्य प्रकटे, ऐसा अपूर्व अवसर (स्वकाल-दशा) कब आवे ऐसी भावना इस गाथामें भायी है।

इस तेरहवीं भूमिकामें आत्माकी पूर्ण शान्त समाधि (असीम सुखदशा) रूप परमावगाढ़ सम्यक्त्व और यथाख्यात-चारित्र प्रकट होता है ॥ १५॥

केवलज्ञानीके चार अघातिया कर्म कैसे होते हैं, यह सोलहवीं गाथामें बताते हैं—

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहाँ,
बळी सींदरीवत् आकृतिमात्र जो;
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे,
आयुष पूर्ण मटिये दैहिक पात्र जो।
(अपूर्व०) ॥ १६ ॥

तेरहवीं भूमिकामें अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनन्तवीर्य प्रकट होता है, किन्तु अब भी चार अघातिया कर्म जली हुई जेवड़ी (रस्सी)की भाँति विद्यमान रहते हैं, किन्तु वे बाधक नहीं हैं और आयु पूर्ण होने तक उनकी स्थिति है। आयु पूरी होनेसे जीवकी देहमें रहनेकी स्थिति पूरी होती है और वह मुक्ति प्राप्त करता है, फिर जन्म नहीं होता।

जबतक आत्माका यथार्थ भान नहीं होता तबतक परवस्तु, देहादि, पुण्यादिमें कर्तृत्व, ममत्व और सुखबुद्धि दूर नहीं होती। जीव यदि कभी अज्ञानपूर्वक शुभ-परिणाम करे तो पापनुबन्धी पुण्य बांधेगा और परम्परासे नरक-निगोदमें जाएगा। यह निश्चित है कि—आत्माके भान एवं श्रद्धा बिना भव (संसार) कम नहीं होता।

सच्चे हितकी समझ बिना इस जीवको अनन्त कालसे इस संसारमें परिभ्रमण करना पड़ा है। इसने कभी भी अपूर्वज्ञान द्वारा आत्माको परसे भिन्न नहीं समझा जिससे आत्मा हमेशा कर्म-बन्धनमें रहा और शरीर-सम्बन्ध नहीं

छूटा। एक शरीरसे छूटकर अन्य शरीर-धारणके लिए जाते समय भी तैजस और कार्माण शरीर बराबर आत्माके साथ ही रहते हैं। सम्यग्दर्शनके बिना बाहरमें भी बहुतसे प्रतिकूल संयोग दिखते हैं—क्योंकि निर्दोष ज्ञाताशक्तिको भूलकर यह जीव पराश्रयसे लाभ मानता है, पर-सत्ताको स्वीकार कर बन्धभावमें लगा हुआ है; परवस्तुमें सुखबुद्धि और इष्ट-अनिष्टकी कल्पना कर वह रागी-द्वेषी होता है, और आत्माको भूलकर पुण्यादि-परउपाधिमें सुख मानता है।

जैसी मान्यता होती है वैसी ही रुचि होती है, और रुचि-अनुसार आचरण हुए बिना रहता नहीं। अपनेमें ही अनन्त आनन्द भरा हुआ है इसका जीवको विश्वास नहीं होता, इससे उस आनन्दसे विपरीत-अवस्था दुःख और अशांति का ही साम्राज्य रहता है। आत्मा स्वयं स्वतंत्र आनन्दस्वरूप है, यदि उसकी प्रकट दशा न हो तो दुःखरूप अवस्था ही प्रकट होगी। जीवने अपनेको भूलकर परसे ममत्व किया इससे उसने अपने आनन्दको क्रोध, मान, माया, लोभ द्वारा बिगाड़ा अर्थात् अपने स्वाधीन स्वरूप (ज्ञाता स्वभाव) का ही उसने विरोध किया।

स्वभावके अनन्त सुखको छोड़कर पुण्य-पाप, मान-अपमानके वश होकर जो यह मानता है कि 'मैं सुन्दर हूँ, अन्यको मैं जैसा रखूँ वैसा ही रहे, मैं अन्यको सुखी-दुखी कर सकता हूँ, जिला सकता हूँ, मार सकता हूँ या उसकी व्यवस्था रख सकता हूँ,' वह अपने चैतन्यके शांति-स्वरूपको भूलता है। परकी व्यवस्थाको मैं रख सकता हूँ ऐसा जो मानता है वह महा उपाधिरूप अशांतिको पाता है।

लोग एक-दूसरेकी कुशलक्षेम पूछते हैं, तब उत्तरमें कहा जाता है कि 'आनन्द है, मुझे दुःख नहीं है।' किन्तु थोड़ा गंभीरतापूर्वक विचार करने पर मालूम पड़ता है कि महामोहने आत्माके आनन्दको लूट लिया है, क्रोध, मान, माया और लोभसे प्रतिक्षण स्व की हिंसा और अशांति हो रही है, उसे कौन देखता है? जैसे कोई खूब शराब पीकर मल-मूत्रमें पड़ा-पड़ा भी आनन्द मानता है, वैसे ही आत्मज्ञानसे रहित मूढ़ जीव परवस्तुमें आनन्द मानता है।

अज्ञानी कहता है कि उसने आत्माको शरीरसे भिन्न मान लिया है और वह धर्म-क्रिया कर रहा है, तो यह बात मिथ्या है। जिसे अपनी रुचि और वर्तमान परिणामोंकी खबर नहीं है वह धर्मके नाम पर शुभभाव करे तो पापानुबन्धी पुण्य बांधेगा और साथ-ही-साथ मिथ्यात्वका (मिथ्या अभिप्रायका) अनन्त पाप बांधेगा।

अपने अनंत आनन्द-स्वभावको भूलकर, अनन्त आनन्दसे सर्वथा विपरीत अवस्था—दुःख, अशांति, क्रोध, मान, माया और लोभ—में जीव लगे तो वह प्रतिक्षण आत्माको भाव-हिंसा करता है। जो महा अशांतिमें सुखकी कल्पना करता है वह अपनी ही अनंत हिंसा करता है। जो स्वयं ही अपनेको भूलकर धर्मको पराश्रित मानता है उसको दूसरा कौन समझा सकता है? स्वयं ही धैर्यपूर्वक अपने परिणामोंको पहचान ले, आत्म-अवलोकनके द्वारा अनादिसे चली आयी भूलको दूर करे, तो धर्म हो।

श्रीमद् राजचन्द्रने युवावस्थामें अपूर्व वैराग्य, उपशमभाव सहित मोक्ष-पदकी प्राप्तिके लिए यथार्थ वीतराग स्वरूपकी

भावना कर बुद्धिका सदुपयोग किया था।

वर्तमानमें साधारण बुद्धिवाला जीव 'यह युग स्वतंत्रताका युग है, बुद्धिवादका युग है, अपना विचारा हुआ पूरा कर सकते हैं'–इत्यादि बहुत प्रकारके स्वच्छंदतापूर्ण विचारोंमें अपना पुरुषार्थ मानता है। अंग्रेजी पढ़कर कई तो बहुत अहंभाव रखते हैं, अपने पूज्यजनोंको मूर्ख मानते हैं और कहते हैं कि बूढे लोग धर्मका ढोंग लेकर बैठे हैं। धर्मकी अरुचि और पुण्यकी अनुकूलता हो, तो अभक्ष्य-भक्षण, रात्रिभोजन आदि स्वच्छंदताका सेवन करते हैं। तब 'हम चौड़े और गली सँकड़ी' वाली कहावत चरितार्थ होती है।

ज्ञानी जीव भावना करता है कि मैं पूर्ण, शुद्ध, असंग हूँ। उसे अपनी पूर्ण पवित्रता प्रकट करनेकी रुचिमें संसारकी रुचि करनेका अवकाश नहीं रहता। ज्ञानी स्वरूपकी भावना करता है: मैं नित्य, अतीन्द्रियज्ञानमय हूँ, परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है। वह क्रमशः स्वरूपमें स्थिर होता हुआ संसारसे निर्ममत्वी हो जाता है। अज्ञानी जीव संसारमें देहादि-विषयोंमें एकत्व-बुद्धि करता है कि यह मैंने किया, मैं यह कर सकता हूँ, मैंने दूसरोंको सुखी किया और मेरेसे ही यह सब कुछ होता है। इन मिथ्या विकल्पोंसे वह आत्माको अपराधी, उपाधिवाला, जड़, पराधीन और पुद्गलका भिखारी बनाता हुआ स्वयं विशेष दुःखी बनता है। उसको रात्रिमें भी स्त्री, धन, व्यापार आदिके ही स्वप्न आते हैं।

ज्ञानी धर्मात्मा श्रीमद्‌ने २९वें वर्षमें अपूर्व अवसरकी भावना भायी कि देहादिकी उपाधि-चिन्ता उत्पन्न न हो और आत्माका पूर्ण, असंग, शुद्धस्वरूप प्रकट कर अशरीरी बनूँ। परम तत्त्वकी दृढ रुचि होनेपर स्वप्न भी उस-सम्बन्धी

ही आते हैं। ऐसी रुचिवाला रात-दिन आत्माको ही देखता है, जानता है और विचार करता है कि मैं अशरीरी हो जाऊँ। 'महान सन्त मुनिवरोंके सत्संगमें बैठा हूँ, मैं मुनि हो गया हूँ, मुमुक्षुओंका समुदाय एकत्रित है, नग्न निर्ग्रंथ मुनियोंके संघ मुझे दिखाई पड़ते हैं, मैं मुनि होकर मोक्षदशामें पहुंच गया', आदि इसीप्रकारके स्वप्न भी ज्ञानी देखा करता है।

जिसे संसारकी रुचि है वह पुण्य-पाप, देहादिके कार्योंको अपने आश्रित मानता है। यह उसका अज्ञानमय कर्तृत्वभाव है, बन्धभाव है। आत्मा तो निराकुल चैतन्य आनन्दमूर्ति है। 'चेतनरूप अनूप, अमूरत, सिद्ध-समान सदा पद मेरो' और मेरा ऐसा पूर्ण पद शीघ्र प्रगट हो...अन्तरंगमें ऐसी भावनाका दृढ़ अभ्यास करनेसे चारित्र-गुण विकसित होकर वीतरागता प्रकट होती है।

संसारी मोही जीव बाह्य उपाधिसे तथा धर्मके नामपर पापानुबन्धी पुण्यभावद्वारा अपना विकास चाहता है; जब कि ज्ञानी मानता है कि वह आनन्दस्वरूपकी स्थिरतामें ही विकसित हो सकता है, एक परमाणुमात्रकी भी उपाधि उसके पास नहीं रहनी चाहिए। वह ऐसे अबन्ध-भावमें वीतराग-दृष्टि द्वारा स्वरूपकी सावधानी बढ़ाता है और अपूर्व स्थिरता (ज्ञानकी एकाग्रता) की साधना करता है। 'इस पवित्रताकी रमणतामें देहादि-परमाणुमात्रका सम्बन्ध भी दूर हो जावे, ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा?' ऐसी भावना इस गाथामें की गई है। इसप्रकारकी आंतरिक अवस्था प्राप्त हुए बिना कोई भी मोक्ष-स्वभावको प्राप्त नहीं करता।

[ता० ६-१२-३९]

शुद्ध आत्मस्वरूप कैसे प्रकट हो यह भावना इस गाथामें

व्यक्त की गई है। जिसमें जिसकी रुचि होती है वह उससे कम नहीं मांगता, स्वीकार नहीं करता। जिसे संसारके धन, इज्जत आदिकी रुचि है 'वह रागादि-तृष्णा द्वारा खूब परिग्रहकी इच्छा करता है तथा वह जल्दी प्राप्त हो' -ऐसी भावना करता है। ज्ञानीके उससे विपरीत किन्तु सबल पुरुषार्थ होता है। वह समझाता है कि वह संसार एकांत दुःखमय है एवं अज्ञानजनित अशान्तिसे दग्ध हो रहा है, किन्तु उसका आत्मा संसारसे भिन्न, बेहद शान्ति-आनन्द-मय ज्ञानघन है। उसे शुद्ध तत्त्वस्वरूपकी एकाग्रतामय भावना होती है और क्रमशः पूर्णकी ओर रुचि बढ़ती जाती जाती है। धर्मात्माको अपने पूर्ण शुद्ध आत्मपद की ही यथार्थ श्रद्धा और रटन लगी रहती है; वह पूर्णताके लक्ष्यमें पूर्ण होनेकी भावना करता है ॥ १६ ॥

अब चौदहवीं 'अयोगी जिन' भूमिकाका कथन किया जाता है—

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहाँ सकल पुद्गल संबंध जो;
अेवुं अयोगी गुणस्थानक त्यां वर्तुं,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो ॥अ०॥१७॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्म इन पुद्गल-रजकणोंके संयोगी-सम्बन्धवाले हैं और अनादिकालसे प्रवाहरूपमें चले आरहे हैं। पुराने कर्म दूर होते आते हैं और नये कर्म आते हैं—ऐसा अनादिकालीन प्रवाह था वह १४वें गुणस्थानमें रुकता है।

आत्मा अबन्ध है, मोक्षस्वभाववाला है, उसे भूलकर

इस जीवने बन्धभावमें अटक कर अनन्त दुःख पाए हैं, किन्तु जबसे स्वसन्मुखता द्वारा सब बन्धभावोंको भेदकर सम्यग्दर्शन प्रकट किया तबसे पूर्णताके लक्ष्यमें स्थिरताका पुरुषार्थ बढ़ाते-बढ़ाते जीवके जब केवलज्ञान प्रकट होता है तब वह तेरहवां गुणस्थान 'सयोगी केवलीत्व' प्राप्त करता है। चौदहवें गुणस्थानमें शेष चार अघातिया कर्मोंके छूटनेका काल पाँच ह्रस्व स्वरों (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) के बोलने-जितने समयका है। उससमय आत्म-प्रदेशोंका कंपन नहीं है तथा किसी भी कर्म-परमाणुका आस्रव नहीं है। उक्त पाँच ह्रस्व स्वरोंमें जितना समय लगे उतने समयमें आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मोंकी स्थिति पूरी होकर आत्मा अविनाशी, मुक्त-सिद्धदशाको प्राप्त करता है। तेरहवें गुणस्थानमें साक्षात् सर्वज्ञ प्रभुके पूर्ण वीतराग होते हुए भी, उनके योगका कम्पन होनेसे एक समयमात्रका कर्मका आस्रव होता है जिसकी उसीसमय निर्जरा हो जाती है। तेरहवें गुणस्थानमें जड़ देहके रजकण अतिउज्ज्वल स्फटिक जैसे स्वच्छ हो जाते हैं और पृथ्वीसे पाँच हजार धनुष ऊँचे सहजरूपसे उस देहका विचरण होता है।

यदि तेरहवें गुणस्थानवालेके 'तीर्थंकर' नामक नाम-कर्मकी उत्कृष्ट पुण्य-प्रकृतिका योग हो तो इन्द्रों द्वारा समव-शरणकी अलौकिक, आश्चर्यकारक रचना होती है। वहां गंधकुटी, रत्नजड़ित सिंहासन, अशोकवृक्ष, मानस्तम्भ आदि अनेक प्रकारकी, अति सुन्दर रचना होती है। सौ इन्द्र भगवानकी भक्ति करते हैं। भव्य जीवोंको अति उपकारी निमित्त-स्वरूप उनकी दिव्यध्वनि ॐ रूप छूटती है। ऐसे साक्षात् प्रभु वर्तमानमें पंच महाविदेहमें विराजमान हैं।

वे देहकी स्थिति पूरी होने पर, अयोगी—अबन्ध-अवस्था पूर्ण कर सिद्धशिला पर शाश्वत आनन्दमें विराजेंगे।

"सर्व जीव छे सिद्ध-सम, जे समजे ते थाय।"

प्रत्येक आत्मामें अनुपम, अतीन्द्रिय बेहद सुख शक्तिरूपमें विद्यमान है। द्रव्यस्वभाव ही सुखरूप है, स्वाधीन है। यदि वह शक्तिरूपमें न हो, तो कभी प्रकट भी नहीं हो सकता। आत्मशक्ति पूर्ण है, वह उसही प्रकारके (पूर्ण) श्रद्धा, ज्ञान, और चारित्र द्वारा प्रगट हो सकती है। अन्य उपायसे मोक्ष नहीं हो सकता। इससे यह निश्चित हुआ कि पुण्यसे नहीं, मनके शुभ-परिणामसे नहीं, शरीरसे नहीं, किन्तु आत्मामें ज्ञान प्रकट करके और उसमें स्थिरता करनेसे मोक्षमार्ग और मोक्षदशा प्रकट होती है।

श्रीमद् रायचन्द्रजी इसप्रकारकी भावना आंतरिक-स्थिरतापूर्वक करते थे। वह भावना एक भव बाद पूर्णता प्राप्त करने की थी, इसका उन्हें पूर्ण विश्वास था। 'अपूर्व-अवसर' में श्रीमद्ने साधकस्वभावका यथार्थ वर्णन किया है। क्रमशः उसके श्रेणी-विकासका कथन किया है। दर्शनमोहके क्षय होनेके बाद साधकदशामें आगे बढ़ते हुए क्षपकश्रेणी द्वारा आठवें गुणस्थानसे चारित्रमोह कर्मके उदयका क्षय होता जाता है। बारहवाँ गुणस्थान क्षीणमोह है। चार-घातिया कर्मोंके क्षय होनेपर सर्वज्ञपद-तेरहवां गुणस्थान प्रकट होता है। महाभाग्यवान पूर्ण सुखदायिका अबन्ध दशा प्रकट हो—ऐसा स्वकालरूप 'अपूर्व अवसर' कब आवे, ऐसी भावना इस गाथामें की गई है ॥१७॥

अब सिद्धपद प्राप्त होने पर आत्माको कैसी अवस्था होती है, बताते हैं:—

एक परमाणु मात्रनी मळे न स्पर्शता,
पूर्ण कलंकरहित अडोल स्वरूप जो;
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरुलघु अमूर्त सहजपद रूप जो।अपूर्व०॥१८॥

जैसे आँखोंमें एक अन्य रजकण भी समाता नहीं, वैसे ही अतीन्द्रिय ज्ञानघनस्वरूप आत्मा में किसी अन्य परमाणु-मात्रका भी स्पर्श अच्छा नहीं लगता। उस स्वरूपको भूलकर आत्माको पुण्यवाला, राग-द्वेषादि चिकनाईवाला, स्पर्शवाला या बन्धनवाला मानना मिथ्यादर्शन-शल्य है। आत्मा स्वभावसे सिद्धभगवान-तुल्य है। वह शुद्ध चैतन्यमात्र, ज्ञाता-दृष्टा, पूर्ण शान्ति और आनन्दशक्तिरूप है; उसकी पूर्ण निर्मलदशा प्रगट होनेसे एक परमाणुमात्रका संयोग-सम्बन्ध नहीं रहता ऐसा वस्तुका सहज स्वभाव है। ऐसे अबन्ध स्वभावकी यथार्थ प्रतीति जिस आत्मामें है वह एक रजकण मात्रका भी बन्ध स्वीकृत नहीं करता, यह सम्यग्दर्शनका माहात्म्य है। ऐसे निःशंक अभिप्रायको स्थिर रखनेकी सामर्थ्य चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ होती है।

'मैं सिद्ध-समान शुद्ध, अबन्ध हूँ; शुभ या अशुभ कर्मके किसी भी रजकणका मेरे सम्बन्ध नहीं है।' इस दृष्टिको सामने रखकर पूर्ण होनेके लक्ष्यसे स्वरूपका उत्साह बढ़ता है और सम्यक्त्वसहित अप्रतिहतभावसे चारित्रकी रमणतामें, स्थिर उपयोगमें एकाग्रता बढ़नेसे क्रमशः परमावगाढ़ सम्यक्त्व और यथाख्यात चारित्र प्रकट होता है तब निश्चल, पूर्ण पवित्र वीतरागदशारूप शुद्धस्वभाव प्रगट होता है।

भगवान आनन्दघन चैतन्यप्रभुमें एक परमाणु मात्रका भी स्पर्श नहीं है, उसमें उपाधिका अंश भी नहीं है, ऐसा उसका मूल स्वरूप है, इसलिए उस प्रकारकी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता द्वारा अपना पद प्रकट होता है। उसको प्रगट करनेका अपूर्व अवसर कब आवे उसकी यहाँ भावना की गई है।

धर्मात्मा निश्चयनयसे अपनेको अबन्ध, शुद्ध मानता है और साथ ही उस प्रकारकी निःशंक श्रद्धा स्थिर रखनेका पुरुषार्थ बढ़ाता रहता है। उसे अशरीरी बननेके लिए मात्र मोक्षकी अभिलाषा रहती है। इसीलिए उसे संसारके किसी पदार्थ या पुण्यादिकी इच्छा नहीं होती। उपाधिद्वारा अपना स्वरूप पहचाननेको धर्मात्मा शरम मानता है और अज्ञानी जीव अपने 'अहं' को बढ़ाते हुए उल्टी मान्यता करता है कि 'मैं सुन्दर हूँ, पुण्यवान, धनी, कुटुम्बी, इज्जतदार हूँ।'

आत्मा अतीन्द्रिय, निराकुल, शान्त, समतास्वरूप, परसे भिन्न है; उसे भूलकर उपाधिमें सुखकी कल्पना करना और अपनी जातिसे भिन्न जड़कर्मकी विकारी अवस्थासे आत्माको पहचानना महाकलंक है। पुण्यभाव भी पवित्र चैतन्यमूर्तिके ऊपर अपवित्र मोटी फुन्सीके समान है। चैतन्य निरोगी तत्त्व है, उसे कर्मकी उपाधियुक्त जाननेका धर्मात्माको खेद है। वह निरन्तर यही भावना करता है कि मैं अशरीरी, मुक्तदशावाला कैसे बन जाऊँ। देहात्म-बुद्धिवाले जीवको परवस्तुमें सुख-बुद्धि रहती है। वह देहादिकी ममता और उसकी अनुकूलता के परिपोषणमें ही अपना जीवन गंवाता है और अपनी समस्त शक्तिका दुरुपयोग करता है।

धर्मात्मा मुनि जंगलमें एकाकी, देहकी ममतासे रहित होकर विचरण करते हैं उस अवस्थामें कभी सिंह उनके शरीरको फाड़ डाले, या और किसी तरह शरीर छिन्न-भिन्न हो जावे, या इस शरीरका और जो कुछ होजावे उससे उनके ज्ञान और समाधिमें कोई बाधा नहीं है, ऐसा वे मानते हैं। ऐसे अवसर पर जिन्होंने आत्माकी अनन्त शक्ति प्रगट कर पूर्णता प्राप्त की या करेंगे वे धन्य हैं। ऐसा होनेपर ही मनुष्यशरीर धारण करनेकी सार्थकता है। इस प्रकार धर्मात्मा शरीरकी ममता छोड़कर मुक्त होनेकी भावनाको बलवती–दृढ़ करता है। उसे एक क्षण भी संसारमें रहने या शरीरको रखनेकी रुचि नहीं है। वह अपने स्वरूपके लक्ष्यसे जिनाज्ञा-चिन्तनकी रुचि बढ़ाते हुए, अबन्धभाव स्थिर रखते हुये प्रतिक्षण अनंत कर्मोंकी निर्जरा करता है और मोक्षमार्गकी साधना करता है। वह मोक्षकी ओर अग्रसर होता जाता है, जबकि अज्ञानी जीव बन्धभाव करता हुआ संसारकी चार गतियोंमें भ्रमण करनेकी ओर बढ़ता है।

किसीको शंका हो कि निगोद, नरक, देवलोक आदि नहीं हैं, तो उन सबकी एवं परलोक आदिकी स्थिति अनेक न्याय, दृष्टान्त, युक्ति एवं प्रमाणसे सिद्ध हो सकती है।

'आत्मा:नित्य है' इस सिद्धान्तको भूलकर यह जीव अपनेको शरीरादिकी योग्यता वाला, रागद्वेषयुक्त, पुण्यवाला, बन्धवाला मानता रहा है, किन्तु उसने अपनेको स्वाधीन, निर्दोष, ज्ञाता, द्रष्टा, परसे भिन्न नहीं माना इसलिए वह पर-वस्तुसे प्रेम करता है; पुण्य, देहादि द्वारा अपनेको पहचाननेमें

हर्ष मानता है। देह, पुण्यादि तो चेतनके सिर पर कलंक-स्वरूप हैं। कलंकको शोभास्वरूप माननेसे उसका छुटकारा कैसे हो? इसलिये सर्वप्रथम तत्त्व समझनेका प्रयत्न करना जरूरी है। आत्मा त्रिकाल शुद्ध, अबंधस्वभाववाला है। उसे पर निमित्तसे बन्धवाला, अपूर्ण, हीन या विकारी मानना सबसे भारी पाप (मिथ्यादर्शन) है, स्वरूपकी हिंसा है और अनन्त भव-भ्रमणका मूल कारण है। प्रत्येक पदार्थ सत् है; जो 'है' वह त्रिकाल होता है, स्वतंत्र होता है; कोई भी वस्तु स्वभावसे विकारस्वरूप नहीं है। जैसे सोनेमें तांबा मिला हो, तो उससे सोनेका स्वरूप मलिन नहीं होता, उसी प्रकार आत्माका स्वभाव शुद्ध है, उसे भूलकर जीवने परके निमित्तको स्वीकार किया है और माना है कि वह बंधवाला है, राग-वाला है; किन्तु यदि ऐसा हो, तो जीव कभी बन्धनसे छूट नहीं सकता, क्रोधको दूर कर क्षमा धारण नहीं कर सकता, किन्तु सच्चे पुरुषार्थी क्षमा द्वारा क्रोध हटाते ही हैं।

जो संसारके प्रेमको छोड़कर परमार्थके लिए निवृत्ति नहीं ले सकते उनका जीवन व्यर्थ है। जिसने अपने पूरे जीवनमें आत्मासंबंधी विचार और सत्समागम नहीं किया उसे आत्माकी रुचि कैसे हो?

श्रीमद् रायचन्द्रने छोटी आयुमें ही लिखा था कि मैं कौन हूँ, कैसे हुआ, मेरा असली स्वरूप क्या है? जिसने इसप्रकारके विचार अंतरसे जाग्रत किये, उसके संसारका अन्त कैसे नहीं होगा? अवश्य होगा। अनन्तकालीन अशांतिकी. पराधीनताकी जिसे हार्दिक वेदना हो, उसे अपने आत्माका दया आती है और अपनेमें योग्यता उत्पन्न कर अपनेको शुद्धस्वरूपके सन्मुख रखता है।

श्रीमद् जवाहरातका व्यापार करते थे, फिर भी वे निवृत्ति चाहते थे और अपूर्व भावना करते थे कि उनका शरीरादिसे सम्बंध नहीं है। देहादिके संयोग और विकाररूप कोई भी उपाधि उन्हें नहीं चाहिये थी, पूर्ण शुद्धात्माके अतिरिक्त वे अपना कुछ भी नहीं समझते थे। 'पूर्ण सिद्धपद कब प्रगटे' इस उद्देश्यसे इस प्रकारका पुरुषार्थ वे निरंतर करते रहते थे। इस अपूर्व रुचि और पूर्ण पवित्र होनेकी तथा केवल निजस्वभावमें अखंडरूपसे रहनेकी भावनाका यह सुफल हुआ कि वे एक भव बाद मोक्षदशाको प्रकट करके पूर्ण पवित्र, निराकुल अनंत आनन्दको प्राप्त करेंगे।

लोग सुख चाहते हैं, किन्तु उसके कारणोंको मिलाते नहीं हैं। वे दुःखको नहीं चाहते, किन्तु दुःखके कारणस्वरूप 'मोह'को नहीं छोड़ते। शरीरादिकी ममता छोड़ना नहीं चाहते। वे दर्पणमें अपना रूप (शरीर) देखकर खुश होते हैं, वे शरीरको ठीक रखनेके लिए अहंभाव करते हुए अनेक तरहकी विचित्र कल्पना करते हैं और उपाधिमें सुख मानते हैं, इस अपवित्र शरीरको सर्वस्व मानकर पागल होजाते हैं और आकुलताको सुख कहते हैं। ज्ञानी ऐसे जीवोंको संबोधन करते हैं कि—हे जीव! तू देह, रागद्वेष, और पुण्य-पापादिसे भिन्न है। एकबार सर्व परभावसे भिन्न हो, तो मालूम होगा कि तेरे स्वभावमें उपाधि रंचमात्र भी नहीं है। एक बार मोहभावसे अलग होकर अपने स्वरूपके सन्मुख हो, तो तेरा चैतन्य भगवान् ही तेरी रक्षा करेगा अर्थात् तू स्वरूपमें सावधान रह सकेगा। ऐसी वस्तुस्थिति प्रकट कर दिए जाने पर भी मोही जीवोंको संसारकी उपाधिका प्रेम नहीं छूटता, जब कि ज्ञानी धर्मात्मा अपनी असंग-अवस्था प्रकट करनेकी

भावना करता है कि "एक परमाणुमात्रनी मळे न स्पर्शता, पूर्ण कलंकरहित अडोल स्वरूप जो" ।

जो इसप्रकारकी भावना करते हुए जाग्रत जीवन व्यतीत करते हैं वे मनुष्य-भवमें रहकर अपनी स्वाधीनदशा प्रकट कर धर्मरूपी तत्त्व प्राप्त करते हैं और करेंगे । संसारकी रुचि छोड़े बिना यह परम तत्त्व कैसे समझा जावे ? जिसे पुण्यादि-परवस्तुमें सुखबुद्धि है उसे संसारसे अरुचि और सच्ची समझ कैसे हो ? स्वरूपकी पहिचान हुए बिना विपरीत भाव दूर नहीं होता, इसलिए सर्वप्रथम शरीरादिकी ममता कम कर सत्समागम करना आवश्यक है । अनादि कालसे मोहनिद्रा व भूलमें पड़ा हुआ यह चैतन्य एक बार भी जाग्रत होकर ऐसा विचार करे कि 'मैं सर्व उपाधि रहित हूँ; कर्म-कलंकसे भिन्न असंग हूँ; राग-द्वेष, पुण्य-पापादि परमाणुमात्र भी मेरे स्वभावमें नहीं हैं' । (पराश्रयकी श्रद्धा छोड़कर) अपने अखण्ड स्वभावका ज्ञान करके पूर्ण पवित्रतामय अपूर्व स्वभावका अनुभव करके यह जीव यह कहे कि मैं वैसा ही हो जाऊँ । इसप्रकारका अतीन्द्रिय पुरुषार्थ पूर्णता-प्राप्तिके लक्ष्यसे करके, ऐसी भावनाकी रुचिद्वारा स्वरूपकी स्थिरता करके अनंत जीवोंने पूर्ण, कलंकरहित, शाश्वत, सहजानंद-स्वरूप मोक्षदशाको प्राप्त किया है, करते हैं और करेंगे ।

अब 'शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय' पदकी व्याख्या की जाती है—

'निरंजन' अर्थात् मलादिक विकारका अंजन न होना । 'चैतन्यमूर्ति'—इस शब्दमें 'चिद्' धातु है । इसका अर्थ है [illegible]

अवलंबन द्वारा क्षाररससे ही पूर्णरूपसे भरा हुआ है, वैसे ही जो एक ज्ञानस्वरूपका अवलम्बन करता है वह केवलज्ञान-रससे भरपूर भरा हुआ अपनेको अनुभवमें, श्रद्धामें लाता है। उस स्वभावको खंडित करनेमें कोई समर्थ नहीं है। वह शक्तिरूप निजभाव स्वभावसे ही प्रकट होता है, उसे किसीने बनाया नहीं है।

हमेशा जिसका ज्ञानानंद-विलास प्रकट है, वह अरूपी पदार्थ 'चैतन्य' है। इससे यह जीव सिद्ध परमात्मा, प्रगट चैतन्यमूर्ति कहलाता है।

'अनन्यमय'=जिस-जैसा अन्य कोई नहीं। सिद्धात्मा शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभावको धारण करनेवाला है। प्रत्येक आत्मा शक्तिरूपसे सिद्धपरमात्मा जैसा है।

"अगुरुलघु अमूर्त सहज पदरूप जो" पदकी व्याख्या इस प्रकार है—

'अगुरुलघु' नामक एक गुण है जो छहों द्रव्योंमें है। आत्मा और ज्ञानगुण अभेद वस्तु हैं। उस ज्ञानगुणमें आत्माके अनंत गुणधर्म सन्निविष्ट हो जाते हैं; उसकी चेतनरूप अवस्था अनादि और अनंतकालीन है। इस जीव द्रव्यका परिणमन उत्कृष्टरूपसे हीनरूप हो, तो वह निगोदमें आता है। वहाँ ज्ञानशक्ति बहुत ढँक जाती है, तो भी उसके अपने गुणका एक अंश भी जड़रूप नहीं होता और पूर्ण शुद्ध-स्वभाव प्रकट होने पर स्वगुणका पूर्ण परिणमन होते हुए भी अपने एकरूप स्वद्रव्यकी मर्यादाका उल्लंघन कर अन्य द्रव्यमें या अन्य आत्माके प्रदेशोंमें प्रविष्ट नहीं होता। ऐसा परिणमन 'अगुरुलघु' गुणके कारणसे होता है। कोई गुण वह

कोई द्रव्य अन्यरूप न हो, यह भी अगुरुलघु गुणका कार्य है।

जीव वर्ण-गंध-रस-स्पर्शरहित अमूर्तस्वरूप है।

आत्मा सहजस्वभावमें अनंत आनंदस्वरूप है; स्वाभाविक सिद्धस्वरूप पूर्ण आत्मपद है जो अविनाशी सहजानंद शुद्ध-स्वरूप है। वह स्थिति शीघ्र प्रकट हो यह भावना इस गाथामें की गई है।

आत्मा चौदहवें गुणस्थानसे छूटकर अपने ऊर्ध्वगमन-स्वभावके कारण लोकके अग्रभागमें स्थिर होता है। आत्मा सूक्ष्म और हलका है, इसलिए उसका ऊर्ध्वगमन-स्वभाव है। और संपूर्ण शुद्धत्व होने पर भी लोकका द्रव्य होनेसे वह एक समयमें लोकाग्र तक पहुँचता है।

यहाँ शंका उठती है कि जब आत्माका ऊर्ध्वगमन-स्वभाव है तब वह अबतक ऊपर क्यों नहीं गया? इसका समाधान यह है कि प्रत्येक जीव उच्चता (ऊर्ध्वगमन) चाहता है, किन्तु अपने अज्ञानके कारण देहादि-परवस्तुमें राग-द्वेष-मोह द्वारा उपाधिरूप कर्मबंधनमें अटका हुआ है। जबतक जीव स्वसन्मुख पूर्णरूपसे स्वरूपस्थिरता नहीं करे तब-तक उसका ऊर्ध्वगमन स्वभाव प्रगट नहीं होता। जो मोक्ष-स्वभाव पहले शक्तिरूपमें था वह, जीवके पूर्ण शुद्ध होने पर, प्रकट होता है और 'उसीसमय ऊर्ध्वगमन-स्वभाव' नामक शक्ति प्रगट होती है। देहादि कर्म-बंधनसे छूटनेके बाद आत्मा नीचे नहीं रह सकता। आत्मा अरूपी, सूक्ष्म, हलका है; हलका पदार्थ ऊपर ही जाता है। मिट्टी लगी हुई तूँबी कूएँमें डालने पर नीचे जाती है, किन्तु मिट्टी उतर जानेपर वह तूँबी ऊपर आजाती है, इसी प्रकार चैतन्य भगवान

आत्माके कर्म-पुद्गलपरमाणुओंका संबंध था, किन्तु उसको ज्ञान-ध्यानसे दूर कर दिया तब वह आत्मा पूर्ण कलंकरहित स्वरूपमें लोकके अग्रभागमें अचल विराजमान होता है॥ १८॥

पूर्व-प्रयोगादि कारणना योगथी,
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;
सादि अनंत अनंत समाधि सुखमां,
अनंतदर्शन ज्ञान अनंत सहित जो। अपूर्व०। ११।

अनादिकालीन अज्ञानभावको दूर करने से सम्यग्दर्शन प्रकट होता है और तभी से पूर्ण-शुद्धता (मोक्षस्वभाव)की अवस्था प्रकट करनेके लिये स्वरूपमें रहनेका, अर्थात् ज्ञानकी स्थिरताका पुरुषार्थ जीव प्रकट करता है। ऐसा गुण-श्रेणिरूप अंतरंग ज्ञानमें प्रयत्न वह पूर्व-प्रयोग है और उसके द्वारा पूर्ण-शुद्धस्वरूप प्रकट हुआ, जिससे सहज ही आत्माका ऊर्ध्वगमन हुआ। क्षेत्रकीअपेक्षा जीव सिद्धालय-क्षेत्रको पाता है ऐसा कहना व्यवहार है, क्योंकि वह आकाश-क्षेत्र है। वास्तवमें मुक्त जीव स्वक्षेत्ररूप निश्चल स्वभावमें सादि-अनंत स्थिर रहते हैं। जीव एक समयमें लोकके अग्रभागमें पहुँचकर स्वद्रव्यमें स्थिर रहता है।

शास्त्रोंमें पूर्व-प्रयोगादिके चार दृष्टान्त कहे गये हैं—

१ कुम्हारके चाककी तरह, पूर्वप्र-योगसे, आत्मा ऊपर जाता है।

२ एरंडका बीज सूर्यके तापमें सूख कर चटकता है तब उसकी मींजी आकाशमें ऊर्ध्व जाती है, इसीप्रकार कर्मोंसे मुक्त

छिलका चैतन्यके-वीतरागताके तापसे जब खुलता है तब आत्मा सहज ही आकाशमें ऊँचा जाता है और फिर नीचे आनेका किसी भी कर्मका निमित्त नहीं रहता ।

३ अग्निशिखा—जैसे अग्निकी ज्वाला आकाशकी तरफ ऊँची जाती है, उसी प्रकार आत्मज्ञान-ज्योति ऊपर जाती है ।

४. १८वीं गाथामें वर्णित तुँबीके दृष्टांतकी तरह आत्मा कर्मरहित होकर ऊपर जाता है । यह ध्यान रखना चाहिए कि दृष्टांत एकदेशीय होते हैं, वे सब प्रकारसे लागू नहीं होते ।

'सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो'—चैतन्यरूप सिद्धात्माका स्वक्षेत्र असंख्यातप्रदेशी है; अरूपी चैतन्यमूर्ति अपने राज्यमें, शिव-सुखमें, सुशोभित पुरुषाकारमें अपने स्वरूप-सिद्धक्षेत्रमें निश्चल निराबाधरूपसे सदा ही स्थिर रहता है, फिर उसका जन्म-मरण नहीं होता, यह त्रिकाली नियम है । सिद्धक्षेत्रमें अनंत सिद्ध-जीव हैं, तब भी एक आत्मद्रव्य अन्य आत्मद्रव्यमें मिलता नहीं है, किन्तु सभी सिद्ध-आत्मा स्वतंत्ररूपसे स्व-सत्ताको स्थिर रखते हुए नित्य रहते हैं । किस प्रकार ?-ऐसे जैसा कि कहा है—

'सादि अनंत, अनंत समाधि सुखमां
अनंतदर्शन ज्ञान अनंत सहित जो ।'

आत्मामें मोक्ष-पर्याय शक्तिरूप थी, उसका उत्पाद हुआ अर्थात् मोक्ष-स्वभाव प्रकट हुआ, परमात्म-पद प्रकट हुआ, यह 'आदि' हुई । अब यह आत्मा अनंतकालपर्यंत शाश्वत सिद्ध-पदमें अपना अनंतसुख भोगेगा, अर्थात् निराकुल स्वभावका अव्याबाध आनंद लेगा, इससे वह 'अनंत' है ।

जीव सुख चाहते हैं। वह अनंत सुख सद्दर्शन और ज्ञान-प्राप्तिसे मिलता है, इसलिए सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनका उपाय करना चाहिये। सम्यग्दर्शन होनेसे समाधि प्रकट होती है। 'अपने शुद्धात्मस्वरूपका यथार्थ अनुभव' और 'अंतमें समाधिमरण' जिसे 'पंडितमरण' भी कहते हैं, जिसमें पूर्णज्ञान और स्वरूपकी स्थिरता सहित शरीर छूटता है। पूर्ण-स्वरूपसमाधि सादि-अनंत सुखमें सदा स्थिर रहनेमें है।

आत्माका स्वभाव अनंत आनन्द–सुखरूप है। पूर्ण शुद्ध-स्वरूपकी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता द्वारा मोक्ष-स्वभावके प्रगट होने पर सहज आनंदका स्वाद आता है, क्योंकि वह सच्चा सुख स्वात्मासे उत्पन्न एवं अविनाशी है। इसमें चनेका दृष्टांत—जैसे कच्चा चना स्वादमें कडुआ लगता है और बो देने पर उगता है, किन्तु जब उसको सेककर खाया जाय तब स्वादमें मीठा लगता है और बोने पर नहीं उगता। चनेकी वह मिठास कढाईसे या अग्निमेंसे प्रकट नहीं हुई, वह चनेमेंसे ही प्रकट होती है; वैसे ही श्रद्धा और ज्ञानकी स्थिरतासे कर्म-बंधनकी चिकनाई दूर कर वीतरागदशा प्रकट की जाय तो अपना अनंत आनन्द—जो शक्तिरूपमें है—प्रकट होकर स्वाद दे और फिर संसार-बीजरूप जन्म-धारण करना न रहे।

प्रश्नः—शक्कर खाने पर उसकी मिठासका स्वाद आत्माको कैसा लगता है?

उत्तरः—शक्कर खानेसे आत्मा तो कहीं मीठा नहीं होता। आत्मा सदा अरूपी होनेसे 'स्पर्श' नामका मूर्तिक गुण उसमें नहीं है, आत्मा मीठेपनका ज्ञान करता है वहाँ

आत्मामें जड़का स्वाद प्रविष्ट नहीं होता। शक्करका स्वाद कोई नहीं लेता, किन्तु उसके स्वादको ज्ञानी जानता है और अज्ञानी उसमें राग करता है। शक्कर जड़-रूपी है, आत्मा अरूपी है। "मैं मीठा स्वादवाला हूँ" यह मानकर अज्ञानी रागका अनुभव करता है अर्थात् तत्सम्बन्धी विपरीत ज्ञान कर रागरूप हर्षको भोगता है। राग दुःख है, जब कि आत्माका स्वभाव शांति एवं आनन्दमय है, किन्तु अपनेको भूलकर 'मैं परका सम्बन्धरूप उपाधिवाला हूँ, अशांतिवाला हूँ'–ऐसा अज्ञानी जीव मानता है, तो भी उसका जो आनंद-शांतिस्वभाव है वह दूर नहीं होता। जैसे कच्चे चने में स्वाद अप्रकट है जो कि उसके सेकने पर उसमें से ही प्रकट होता है, वैसे ही चेतन में आनंद, शांति, असीम सुख शक्तिरूपमें है जो यथार्थ विधिसे प्रकट होता है।

भगवान आत्मा केवल आनंदमूर्ति है; जो भूलकर उसे न्यून, हीन या विकारी मानता है वह रागद्वेषका कर्ता होता है और परसे सुख-दुःखकी कल्पना कर व्याकुल बन, हर्ष-शोकको भोगता है। जीव अपने ज्ञानमें केवल अस्थिरता भोगता है, कोई भी आत्मा परको नहीं भोगता। स्त्री, धन, इज्जत, देह, राग-द्वेषादि या कोई भी पर-वस्तु आत्मामें प्रविष्ट नहीं होती। स्वयं अतीन्द्रिय और शाश्वत होते हुए भी, अज्ञानी अपनेको भूलकर परवस्तुमें ममता द्वारा राग-द्वेष करता है और हर्ष-शोकरूप अपनी विकारी अवस्थाको भोगता है। बिच्छू जब काटे तो दुःख होता है, तब ज्ञानी यह मानता है कि यह देहकी ममताका राग है। बिच्छूके जहरका परमाणु अरूपी आत्मामें प्रविष्ट नहीं होता, किन्तु अज्ञानी आत्मा अपनेको

भूलकर देहके स्वामित्व द्वारा 'मैं दुखी हूं' ऐसा मानता है। वह स्वयं अपनेको पररूप होना मानता है, किन्तु असलमें वह वैसा नहीं हो जाता। यदि वह परभावरूप होजावे तो क्षमा, शांति, आनंद, ज्ञान आदि स्वगुणमय नहीं हो सकता।

आत्मा ज्ञानत्वसे सदा प्रकट है, तो भी उसमें अन्य मानना या परका कर्तृत्व या भोक्तृत्व मानना अज्ञानभाव है। यह अज्ञानमयभाव क्षणिक होनेसे ज्ञानमयभाव द्वारा दूर हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि निजशुद्धत्वरूप मोक्ष आत्माका स्वभाव है; बन्धन, भूल, अशुद्धत्व उसका स्वभाव नहीं है। अनंत ज्ञान, अनन्त सुख, अनंत श्रद्धा और अनंत-वीर्यसे आत्मा परिपूर्ण है। जिसका सहज स्वभाव 'शुद्ध' ही है उस स्वभावकी सीमा-अन्त क्या? यह निज तत्त्व जैसा है वैसा पहचाना जाय, तो यह आत्मा अन्तमें पूर्ण कृतकृत्य होकर सहज स्वतंत्र सुखदशा प्रकट करेगा ही।

शास्त्रमें कहा जाता है कि सब जीवात्मा सुख चाहते हैं, किन्तु वे सुखके कारणोंका संयोजन नहीं करते। अनंतसुखके कारण सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। संसारी जीवोंने उस मार्गको कभी ठीक रूपमें सुना नहीं, कभी अपनाया नहीं। अतः वे सुख तो चाहते हैं, किन्तु दुखके कारणोंको नहीं छोड़ते। दुःखका नाम 'अशांति' है। उस अशांतिका कारण अज्ञान अथवा दर्शनमोह-मिथ्यात्व है, स्वरूपकी भूल है। उस विपरीत-मान्यतारूप अज्ञानका अभाव सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञानसे ही होता है।

पुण्य-पाप और राग-द्वेषरूप उपाधिसे भिन्न ऐसे ज्ञानानंद स्वरूपकी श्रद्धा, समझ और उसमें स्थिरता सत्यपुरुषार्थ

द्वारा क्रमशः पूर्णरूपसे प्रकट होती है और उससे सादिअनंत निराकुलरूप सुखदशा प्रकट होती है। निराकुलताका तात्पर्य आधि, व्याधि और उपाधि रहित शांतिसे है।

आधिः—मनकी चिंता; मनके शुभाशुभ विकल्परूप विकारी कार्य; अर्थात् चैतन्यकी अस्थिरता।

व्याधिः—शरीरकी रोगादि विषयक चिंता।

उपाधिः—स्त्री, धन, पुत्र, इज्जत आदिकी चिन्ता।

उपर्युक्त आधि, व्याधि और उपाधिरूप आकुलतासे रहित सहजानन्दरूप सुखदशा है। उस अनंत समाधि-सुखमें अनंत सिद्ध भगवान (सादि-अनंतकाल) विराजमान हैं।

'अनंतदर्शन, ज्ञान अनंत सहित जो'। आत्मामें अनंत वीर्य (स्वसामर्थ्य-विशेषरूप बल) होनेसे उसके समस्त गुण अनंतशक्तिवाले ही हैं। आत्माने अनंत आनंद, दर्शन, ज्ञान, शक्तिको भूलकर विपरीत परिणमन किया है। वही आत्मा अनंत स्वाधीनताका भान कर अनंत दर्शन, ज्ञान, वीर्य और आनन्दको अपनी शक्तिमेंसे प्रकट कर सकता है; किन्तु जबतक अपने स्वरूपका भान नहीं है तबतक वह अपने ही कारण पराधीन है और उसीसे वह दुखी है। पराधीनको स्वप्नमें भी सुख नहीं है।

ज्ञानी धर्मात्मा एक परमाणुसे लेकर इन्द्रपद-चक्रवर्तीपद जैसी किसी भी प्रकारकी पुण्यकी पराधीनताकी इच्छा नहीं करता। उसे विश्वास है कि-स्वाधीनताका पुरुषार्थ करनेसे ही मोक्षस्वभाव प्रकट होता है। ज्ञानी शुभ विकल्प भी नहीं चाहता, क्योंकि शुभ परिणाम भी मोक्ष-प्राप्तिमें बाधक है

पुण्य-पापरूप राग-द्वेषका अवलम्बन पराधीनता है। ज्ञानी कहता है कि संसारी जीव सुख तो चाहते हैं, किन्तु जो सुखका मार्ग है उसे भूलकर पराधीनताका कार्य करते हैं तब उससे स्वाधीनताका फल कैसे प्रकट होगा? विकारी रागरूप कारणमेंसे अविकारी वीतराग-कार्य नहीं प्रकट होता। अतः प्रथम सच्ची-समझपूर्वक आत्माकी रुचि करनेकी जरूरत है। यहाँ सम्यग्दर्शन सहित पूर्ण शुद्ध-स्वरूपकी रुचि और तद्रूप-पुरुषार्थस्वरूप 'अपूर्व अवसर'की प्राप्तिकी भावना है।

'अनंत दर्शन, ज्ञान अनंत सहित जो।'

चेतना आत्माका गुण है, वह दो प्रकारका है—

१—दर्शनचेतनाः—इसका व्यापार निर्विकल्प, निराकार और सामान्य प्रतिभास है।

२—ज्ञानचेतनाः—इसका व्यापार सविकल्प (स्व-पर प्रकाशक), साकार और विशेष प्रतिभास है। दर्शनका लक्षण सामान्य सत्तामात्र अवलोकन है। उसमें स्व-परका भेद नहीं है।

अब दर्शनोपयोगकी व्याख्या की जाती है—

एक पदार्थ-संबंधी ज्ञानका विकल्प छूटकर दूसरे पदार्थकी तरफ उत्सुकता जैसा झुकाव हुवा और तब जहाँतक दूसरे पदार्थ-सम्बन्धी ज्ञान नहीं हुआ, उस बीच (अल्प समय)में सामान्य प्रतिभासरूप दर्शनचेतनामय उपयोग होता है। यह व्याख्या छद्मस्थ जीवके दर्शन-उपयोगकी है; सिद्ध भगवान और केवलज्ञानी सर्वज्ञके एक ही समयमें ज्ञान और दर्शन-

उपयोग एकसाथ वर्तते हैं। जो अनन्त-सामर्थ्यस्वरूप दर्शन और ज्ञान-उपयोग युगपत् है उसमें विश्वके समस्त जीव-अजीव द्रव्योंका सामान्य-विशेषरूप सर्वभाव एकसमय-मात्रमें सहज जाना जाता है। निश्चयसे सर्वज्ञके अनन्त दर्शन-ज्ञानकी असीम अनन्त शक्ति (वीर्य) है और अनन्त सुख है तथा समस्त गुणोंको स्थिर रखनेवाला यह 'अनन्तवीर्य (बल)' नामक गुण ही है। ऐसे अनन्त गुणोंवाली पूर्ण परमात्म-दशा प्रकट हो, ऐसा 'अपूर्व अवसर' कब आवे? इसकी यहाँ भावना की गई है ॥ १९॥

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां
कही शक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो ॥अ०॥ २० ॥

केवलीभगवानने तेरहवें गुणस्थानमें जो लोकालोकका संपूर्ण स्वरूप जाना है उसे वे स्वयं भी वाणी द्वारा पूर्ण-रूपसे व्यक्त नहीं कर सकते हैं. क्योंकि वाणी जड़ है, इसलिे जो जितना ज्ञानगम्य है उतना वचनमें नहीं आता। जो स्वरूप सर्वज्ञभगवानने केवलज्ञानमें पूर्णतया जाना है उसे वाणीद्वारा तो साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी-पूर्णतया कह सकते नहीं। सर्वज्ञभगवान स्व-पर सर्व पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानते हैं, छद्मस्थ ज्ञानी परोक्षज्ञान द्वारा जानते हैं, केवल-ज्ञानके समान प्रत्यक्ष नहीं जान सकते, फिर भी अपने आत्माको लक्ष्यमें लेकर स्वानुभव द्वारा अपने स्वरूपकी शान्ति-आनन्दको स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे जानते हैं, आनन्दका

प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। स्वसन्मुखतारूप भावश्रुतज्ञान-उपयोगकी स्थिरताके समय जो आनन्द स्वसंवेदन-अपेक्षा प्रत्यक्ष है वह आंशिक प्रत्यक्ष है। (सर्वथा प्रत्यक्ष तो केवलज्ञानमें ही है।) जैसे अंधा मनुष्य शक्कर खाता है, उसकी मिठास अनुभवता है, किन्तु उसका आकार नहीं देख सकता, वैसे ही चौथे व आगेके गुणस्थानोंमें आत्माके आनन्दका आंशिक अधिकाधिक अनुभव तो होता है, किन्तु उन गुणस्थानोंमें आत्मप्रदेश प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते।

केवलज्ञान प्रकट होनेके साथ ही अनन्तदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य प्रकट होते हैं। वे केवली यदि तीर्थंकर हों, तो उनके आत्माको प्रकाशित करनेवाली ॐरूप दिव्यध्वनि सहज ही खिरती है। अपनी इच्छा बिना भाषा सहज ही प्रस्फुटित होती है। भगवान आत्माका अरूपी ज्ञानघन-स्वभाव है, उसे तथा छह द्रव्योंमें सन्निहित अनंत धर्म हैं उनको, अनेकान्त न्यायसे समझाते हैं।

जड़-वाणी द्वारा अल्प संकेतमात्र किया जा सकता है और चतुर पुरुष उसे समझ लेता है। अनंत जड़ रजकणोंसे निर्मित वाणी द्वारा आत्माका वर्णन पूर्णरूपसे नहीं हो सकता, किन्तु भव्यजनोंके अनंत उपकारकी निमित्तरूप अद्भुत वाणीका योग तीर्थंकर भगवानके होता है। गणधरदेवने उस वाणीके आधार पर बारह-अंगरूप विशाल शास्त्रोंकी रचना की, किन्तु फिर भी अंतमें यही कहा कि इस शास्त्र-रचनामें स्थूल कथन ही है

जड़-वाणीद्वारा अरूपी अतीन्द्रिय भगवान आत्माका संपूर्ण वर्णन कैसे हो सकता है, फिर भी उसका सांकेतिक विवेचन

किया गया है। अनेक नय, प्रमाण, निक्षेपों द्वारा पदार्थोंका स्थूल और सूक्ष्म कथन न्यायपूर्वक किया गया है। आत्मा निरपेक्ष तत्त्व है, वह पर-निमित्तकी अपेक्षासे रहित है, फिर भी कथन-भेद द्वारा अनेकांतधर्म-सहित उसका कथन किया गया है। जड़ वाणी आत्माका कितना कथन कर सकती है? किन्तु श्रोता स्वयं शब्दादिसे भिन्न वाच्यार्थरूप आत्माको सत्समागम और गुरुपदेश द्वारा समझ सकता है। आत्मतत्त्व अनुपम होनेसे किसी जड़ वस्तुके साथ उपमा देकर उसकी तुलना नहीं की जा सकती। खानेवाला गायके ताजे घीका स्वाद तो अनुभव कर सकता है, किन्तु उसकी अन्य वस्तुसे उपमा देकर तुलना कर उसका संतोषजनक वर्णन नहीं कर सकता, तो फिर अरूपी अतीन्द्रिय आत्माका वर्णन विकल्प और वाणी द्वारा कैसे किया जा सकता है? भगवान वीत-राग सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेवके वाणीका योग था, किन्तु वे भी आत्माका वर्णन पूर्णरूपसे नहीं कर सके, उन्होंने तो कथंचित् संकेत द्वारा ही आत्माका वर्णन किया है। आत्माके अनुभवी वर्तमान ज्ञानी पुरुष अन्य भव्यजीवोंको वाणी द्वारा सर्वप्रथम जीवका लक्षण बताते हैं, फिर बादमें लक्षण द्वारा वस्तुतत्त्व समझाते हैं। जैसे कोई पुरुष संकेत कर बतावे कि नीमकी शाखाके ऊपर बाँई बाजू चन्द्रमा है, तत्पश्चात् उस संकेतको समझने वाला लक्ष्य पर दृष्टि करे तो चन्द्रमा दिखेगा, किन्तु अंगुली, वृक्ष आदि निमित्तों पर दृष्टि करे तो चन्द्रमा नहीं दिखेगा; उसीप्रकार भव्य जीव श्रीगुरुके पास रहकर सत्समागम द्वारा अभ्यास करे और श्रीगुरु अतीन्द्रिय आत्माको अनेक नय-प्रमाणों आदि द्वारा उसे समझावें और उसके परमार्थको शिष्य समझ जावे, तो वह सद्बोधरूपी चन्द्रोदयका दर्शन करे और पुरुषार्थ द्वारा पूर्णताको प्राप्त

करे, किन्तु ज्ञानीके आशयको यदि वह नहीं समझे, तो सद्‌बोधरूपी चन्द्रोदयका दर्शन नहीं हो सकता। स्वरूप समझनेके लिये सावधान होकर समस्त विरोधोंको दूर कर शिष्य श्रीगुरुके आशयको समझे, तो उसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो और साथ ही स्वभावकी पूर्णता प्राप्त करनेके लिये पुरुषार्थ की स्थिरता करे ।

द्वितीयाके चन्द्रमाका दर्शन निम्न तथ्य प्रकाशित करता है—

१–वह पूर्ण चन्द्रमाका आकार बताता है ।

२–उस समय वह कितना उघड़ा हुआ है और—

३–कितना उघड़ना शेष है ।

साधक पूर्णताके लक्ष्यसे पुरुषार्थ करता है, वह पुण्यादि उपाधियोंको देखकर उनमें अटकता नहीं। अपने अखंड शुद्धात्मा पर ही उसकी दृष्टि है । इससे पूर्ण आत्मा कैसा है, कितना विकासरूप–अनावृत है कितना अनावृत होना शेष है, यह सब जानते हुए वह शीघ्र पूर्णताको प्राप्त करता है ।

जिन्होंने अपने आत्माकी महिमा नहीं जानी, उसकी रुचि नहीं की कि मैं कौन हूँ, मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं कर सकता; उन्हें तत्वज्ञान जरा भी नहीं है । धर्मके नाम पर वे बाह्यमें जो कुछ करें मिथ्या है, वह आत्महितमें साधक नहीं है। अपनी योग्यता और सद्‌गुरुके उपदेश बिना हिताहितका विवेक जागृत नहीं होता। अनन्तकाल तक अपनेको भूलकर अन्य बहुत–कुछ किया, किन्तु उससे संसार-भ्रमण ही हुआ ।

श्री गणधरदेव हजारों सन्त-मुनियोंके नायक, तीर्थंकर भगवानके प्रधान थे। श्री भगवानकी वाणीके आशयको विशालरूपमें धारणकर रखनेवाले वे चार ज्ञानके धारी थे। उन्होंने भगवानकी वाणीका आशय ग्रहण कर जिन-सूत्रोंकी बारह अंगरूप रचना की थी। १-श्री सर्वज्ञ भगवानने केवलज्ञान द्वारा जैसा आत्मस्वरूप जाना उसका अनन्तवाँ भाग वे वाणी द्वारा कह सके; २-जितना वाणी द्वारा पदार्थका कथन हुआ उसका अनंतवाँ भाग श्री गणधरदेव अपने ज्ञानमें ग्रहण कर सके और ३-उसका अनंतवाँ भाग दूसरोंको समझा सके।

हजारों सन्त-मुनिवरोंमें अग्रसर ऐसे श्री गणधरदेवने जगतके हितके लिए जिन बारह अंगोंकी रचना की उसका मुख्य सार 'श्री समयसारजी' शास्त्रमें है। फिर भी कागज, शब्द, वाणी आदि अनंत रजकणोंके समूह द्वारा और मनके विकल्प द्वारा अतीन्द्रिय आत्माका वर्णन पूर्ण नहीं हो सकता, किन्तु कथंचित् शब्द द्वारा, नय-प्रमाणदृष्टिके भेद द्वारा आत्माको बताया जा सकता है। आत्मतत्त्व सर्वथा अवक्तव्य नहीं है।

आत्मा मन, वाणी और इन्द्रियोंसे भिन्न है, इसलिए—

'तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे ?
अनुभवगोचरमात्र रह्युं ते ज्ञान जो ॥"

जिसको सम्यग्दर्शन द्वारा स्वानुभव हुआ उसने पूर्ण शुद्धताके लक्ष्यसे आंशिक स्वानुभव-सहित पूर्ण द्रव्यको जान लिया है। "मैं शुद्ध हूँ, मुक्त हूँ"-ऐसे मनके विकल्पों द्वारा स्वरूपानन्दका अनुभव नहीं होता, किन्तु रागरहित ज्ञानकी

स्वमें स्थिरता (-एकाग्रता) द्वारा सम्यग्ज्ञानी अपने आत्माको परोक्ष और प्रत्यक्ष-प्रमाणसे जानता है, इससे वह केवल (-मात्र) ज्ञानगम्य है ॥ २० ॥

एह परमपदप्राप्तिनुं कर्युं ध्यानमें
गजावगर ने हाल मनोरथरूप जो;
तो पण निश्चय राजचन्द्र मनने रह्यो,
प्रभुआज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो ॥अपू०॥२१॥

'अपूर्व अवसर' काव्य पूर्ण करते हुए श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि मैंने पूर्ण शुद्ध आत्मस्वरूपकी पूर्ण पवित्र स्थितिको प्राप्त करनेके लिए स्वानुभवके लक्ष्यमें ध्यान किया; किन्तु अभी वह सामर्थ्यसे बाहर और मनोरथरूप ही है। मनन-चिन्तनरूपी रथद्वारा अपूर्व रुचिसे पूर्णताकी भावना करता हूँ। पूर्णताकी प्राप्तिके लिए जैसा पुरुषार्थ और स्वरूपस्थिरता होनी चाहिए, वह वर्तमानमें सुलभ नहीं है। यथार्थ निर्ग्रंथताका पुरुषार्थ करनेरूप शक्तिमें वर्तमानमें निर्बलता दृष्टिगोचर होती है, किन्तु वर्तमानमें भी दर्शनविशुद्धि अवश्य है। इससे निश्चय शुद्धस्वरूपके लक्ष्यसे एक भव बाद, जहाँ साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु तीर्थंकर विराजमान होंगे वहाँ प्रभु-आज्ञासे आत्माका चारित्र धारण कर निर्ग्रंथ-मार्गमें उत्कृष्ट साधक-स्वभावका विकास कर बीसवीं गाथामें वर्णित परमपद पाऊँगा। वीतरागकी आज्ञाका बहुमान करते हुए साधक कहता है कि मेरे आत्मामें ऐसा निःसंदेह निश्चय है कि अगले जन्मके बाद पुनः शरीर धारण नहीं करना है।

'प्रभु-आज्ञा' स्वीकार करनेका तात्पर्य है कि सर्वज्ञ वीतराग भगवानने जैसा चैतन्य-स्वभाव जाना है और जिस

उपायसे परमपद प्राप्त किया उसीके अनुसार मुझे भी प्रवृत्त होना है। जिनाज्ञानुसार निर्ग्रंथ मार्गमें वीतराग-स्वरूपकी आराधना कर परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति करूँगा, उसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं है.-ऐसा दृढ़ विश्वास साधकने अपने आत्मामें निश्चित किया है। जिसकी अनुभव-दशामें इस प्रकारकी निःशंकता हो उसका एक ही भव बाकी है, यह श्रीमद्‌ने 'प्रभु-आज्ञा'का विश्वास कर कहा। 'प्रभु-आज्ञा' महान सूत्र है; उसमें भगवान सर्वज्ञके ज्ञानमें गर्भित आज्ञा और उसके साथ अपने आराधक भावोंकी संधिका यथार्थ निर्णय सन्निहित है। जो श्री राजचन्द्रजीने स्वानुभव-प्रमाण द्वारा निर्णय किया है उसमें 'मोक्ष स्वरूप प्रकट करूँगा' -ऐसा ध्वनित होता है। इस ध्वनिका 'अपूर्व अवसर' कब आवेगा? यह महामंगलमय भावना करते हुए श्रीमद्‌ने 'अपूर्व अवसर' नामक मंगल-काव्य पूर्ण किया ॥ २१ ॥



निर्मलताके लिये सद्दृष्टिवानको

सूचन (उपदेश)

आत्मस्वभावकी निर्मलता करनेके लिये मुमुक्षु जीवको दो साधन अवश्य करके सेवन करके योग्य हैं; सत्श्रुत और सत्समागम। प्रत्यक्ष सत्पुरुषोंका समागम क्वचित् जीवको प्राप्त होता है; किन्तु यदि जीव सद्दृष्टिवान हो तो सत्श्रुतके बहुत समयके सेवनसे होनेवाला लाभ प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी संगति करनेसे बहुत अल्पकालमें प्राप्त कर सकता है; कारण कि प्रत्यक्ष गुणातिशयवान् निर्मल चेतना प्रभाववाले वचन और जागृतिरूप क्रियाचेष्टितपना है जिसको—ऐसा समागम योग (संगति) प्राप्त हो ऐसा विशेष प्रयत्न करना योग्य है, और ऐसे योगके अभावमें सत्श्रुत (सच्चे शास्त्र)का परिचय अवश्य करने योग्य है, शान्तरसकी जिसमें मुख्यता है, शान्तरसके हेतुसे जिसका सभी उपदेश है, ऐसे शास्त्रका परिचय वह सत्शास्त्रोंका परिचय है।



क्या साधन शेष रह गया ? कैवल्य-बीज क्या ?



यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
बनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो ॥ १ ॥

मनपौन निरोध स्वबोध कियो, हठजोग प्रयोग सुतार भयो;
जप भेद जपे तप त्यौंहि तपे, उरसेंहि उदासि लही सब पै ॥ २ ॥

सब शास्त्रनके नय धारि हिये, मतमण्डन खण्डन भेद लिये,
वह साधन बार अनन्त कियो, तदपि कछु हाथ हजू न पर्यो ॥ ३ ॥

अब क्यों न विचारत है मनसे, कछु और रहा उन साधन से ?
बिन सद्गुरु कोउ न भेद लहे, मुख आगल है कह बात कहे ॥ ४ ॥

करुना हम पावत हैं तुमकी, वह बात रही सुगुरू गमकी;
पलमें प्रगटे मुख आगलसे, जब सद्गुरुचर्न सु प्रेम बसे ॥ ५ ॥

तनसे, मनसे, धनसे, सबसे, गुरुदेवकी आन स्वआत्म बसे;
तब कारज सिद्ध बने अपनो, रस अमृत पावहि प्रेम घनो ॥ ६ ॥

वह सत्य सुधा दरसावहिंगे, चतुरांगुल हैं दृगसे मिल है;
रसदेव निरंजनको पिवही, गहि जोग जुगोजुग सो जिवही ॥७ ॥

पर प्रेम-प्रवाह बढ़े प्रभुसे, सब आगम-भेद सु ऊर बसे;
वह केवलको बीज ग्यानि कहे, निजको अनुभौ बतलाइ दिये ॥ ८ ॥



अमूल्य-तत्त्व-विचार

* हरिगीत छन्द *

(अनुवादक :—युगलजी (कोटा) M.A. साहित्यरत्न)

बहु पुण्य-पुंज-प्रसंगसे शुभ देह मानवका मिला,
तो भी अरे! भवचक्रका फेरा न एक कभी टला।
सुख-प्राप्ति हेतु प्रयत्न करते सुक्ख जाता दूर है,
तूं क्यों भयंकर-भाव-मरण-प्रवाहमें चकचूर है॥ १॥

लक्ष्मी बढ़ी, अधिकार भी, पर बढ़ गया क्या बोलिये,
परिवार और कुटुंब है क्या वृद्धि? कुछ नहिं मानिये।
संसारका बढ़ना अरे! नर-देहकी यह हार है,
नहिं एक क्षण तुझको अरे! इसका विवेक विचार है॥ २॥

निर्दोष सुख निर्दोष आनंद लो जहाँ भी प्राप्त हो,
यह दिव्य अंतस्तत्व जिससे बंधनोंसे मुक्त हो।
'परवस्तुमें मूर्छित न हो' इसकी रहे मुझको दया,
वह सुख सदा ही त्याज्य रे! पश्चात् जिसके दुख भरा॥ ३॥

मैं कौन हूँ, आया कहाँसे, और मेरा रूप क्या?
संबंध दुखमय कौन है? स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इसका विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिये,
तो सर्व आत्मिक-ज्ञानके सिद्धान्तका रस पीजिये॥४॥

किसका वचन उस तत्त्वकी उपलब्धिमें शिवभूत है?
निर्दोष नरका वचन रे! वह स्वानुभूति प्रसूत है।
तारो अरे तारो निजात्मा, शीघ्र अनुभव कीजिये,
'सर्वात्ममें समदृष्टि द्यो' यह वच हृदय लिख लीजिये॥५॥

रत्न-कणिका

जो स्व-पर, जीव-अजीव, क्रोधादि आस्रव और आत्माके, भेदको जानता है वह ज्ञाता है—कर्ता नहीं है।

उष्ण जलमें अग्निकी उष्णता और जलकी शीतलताका भेद ज्ञानसे ही प्रगट होता है, सागादि व्यंजनके स्वादसे लवणके स्वादका सर्वथा भिन्नत्व ज्ञानसे ही प्रकाशित होता है, निज रससे विकसनेवाली नित्य चैतन्य-धातुका और क्रोधादि भावोंका भेद,—कर्तृत्वके भेदन पूर्वक—ज्ञानसे ही प्रकट होता है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञानके सिवा दूसरा क्या करे? आत्मा परभावोंका कर्त्ता है ऐसा मानना वह व्यवहारी जीवोंका मोह है।

वचनामृत वीतरागके, परमशान्तरस मूल,
औषध जो भवरोग के; कायरको प्रतिकूल,

आत्म-चिंतन

मैं चेतन, असंख्यात प्रदेशी, सदा अमूर्त, ज्ञानदर्शनमय सिद्धस्वरूप, शुद्धात्मा हूँ।

मैं अन्य द्रव्य नहीं, परद्रव्य मेरा नहीं, मैं पर द्रव्य नहीं, मैं अन्यका नहीं और अन्य मेरा नहीं, अन्य अन्य है, मैं मैं हूँ, अन्य अन्यका है, मैं अपना हूँ। शरीर मुझसे अन्य है, मैं शरीरसे अन्य हूँ, मैं चेतन हूँ। शरीर अचेतन है, वह अनेक है मैं एक हूँ, यह शरीर और शुभाशुभ आस्रव विनाशीक हैं, मैं अविनाशी हूँ।

जीवादि द्रव्योंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला मैं स्व द्वारा, स्वमें, स्वको जैसा मैं हूँ वैसा देख रहा हूँ और अन्य पदार्थोंके विषयोंके प्रति उदासीन हूँ; रागद्वेष रहित मध्यस्थ हूँ।

मैं सत्द्रव्य हूँ, ज्ञान हूँ, ज्ञाताद्रष्टा, सदा उदासीन और प्राप्त शरीरप्रमाण होने पर शरीरसे पृथक्–आकाशके समान अमूर्त हूँ।

मैं सदा स्वस्वरूप आदि स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव)की अपेक्षा सत्‌रूप हूँ और पररूपकी अपेक्षा सर्वथा असत्‌रूप हूँ।

जो कुछ भी जानते नहीं, जिनने कुछ भी जाना नहीं, और भाविकालमें कभी कुछ जान सकेगा ही नहीं, ऐसे शरीर आदि हैं, वे मैं नहीं।

जिसे पहले जाना था, जो भाविमें जानेगा और वर्तमानमें जो जाननेयोग्य है ऐसा चित्‌द्रव्य मैं वास्तवमें ज्ञायक ही हूँ।

यह जगत स्वयं इष्ट या अनिष्ट नहीं है किन्तु उपेक्षा योग्य है, मैं भी राग–द्वेषका करनेवाला नहीं हूँ परन्तु स्वयं उदासीनस्वरूप ही हूँ।

शरीर आदि मुझसे भिन्न हैं, मैं भी तत्त्वतः उन सभीसे भिन्न हूँ, मैं उनका नहीं और वे भी मेरे कुछ नहीं। मैं देह, मन, वाणी नहीं हूँ न उसके कार्यका कर्त्ता, न करानेवाला, न प्रेरक हूँ, किन्तु स्वसन्मुख, शान्त, पूर्ण ज्ञानघन ज्ञाता ही हूँ।

इसप्रकार–सम्यक्‌प्रकारसे अन्य पदार्थोंसे—आस्रवोंसे भिन्न और त्रैकालिक पूर्णज्ञानादि स्वभावोंसे अभिन्न—ऐसा मैं हूँ, ऐसा स्व-आत्माका निर्णय करके निर्मलभाव–आत्ममयी-भावको करनेवाला ऐसा मैं अन्य कुछ भी चिन्तन नहीं करता।

* श्री वीतरागाय नमः *

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचिता द्वादशानुप्रेक्षा

बारह भावना

परम शुक्ल ध्यान द्वारा दीर्घ संसारका क्षय करनेवाले सर्व सिद्धों और चौवीस तीर्थंकरोंको नमस्कार कर मैं बारह अनुप्रेक्षा-भावनाओंका कथन करता हूँ ॥ १ ॥

बारह भावनाओंके नामः— १-अनित्य, २-अशरण, ३-एकत्व, ४-अन्यत्व, ५-संसार, ६-लोक, ७-अशुचित्व, ८-आस्रव, ९-संवर, १०-निर्जरा, ११-धर्म और १२-बोधि-दुर्लभका चिन्तवन करना चाहिए ॥ २ ॥

१. अनित्य भावना

देवों, मनुष्यों और राजाओंके सुन्दर महल, रथ, वाहन, शय्या-आसन, तथा माता, पिता, कुटुम्बीजन, सेवक, सम्बन्धी और प्रिया स्त्री भी अनित्य है ॥ ३ ॥

जिस प्रकार इन्द्रधनुष शाश्वत नहीं है उसी प्रकार पाँचों इन्द्रियोंका स्वरूप, आरोग्य, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य और लावण्य शाश्वत नहीं है ॥ ४ ॥

अहमिन्द्रोंकी पदवी तथा बलदेव, नारायण, चक्रवर्ती आदिकी पर्याय भी पानीकी लहर या बुदबुदके समान, इन्द्र-धनुष समान, बिजलीकी चमक समान और बादलोंकी रंग-बिरंगी शोभाके समान स्थिर नहीं है ॥ ५ ॥

दूध-पानीकी तरह जीव निबद्ध शरीर शीघ्र नष्ट हो जाता है। तब भोग और उपभोगके कारणरूप पदार्थ किस-प्रकार नित्य रह सकते हैं ॥ ६ ॥

परमार्थतः आत्मा देव, असुर, मनुष्य और राजाके वैभवसे भिन्न है, वह आत्मा ही शाश्वत है ऐसा चिंतवन करना चाहिये ॥ ७ ॥

२. अशरण भावना

मृत्युके समय जीवको तीनों लोकमें मणि, मंत्र, औषधि, रक्षक, घोड़ा, हाथी, रथ, सर्व विद्या आदि कुछ भी शरण नहीं है ॥ ८ ॥

जिनका स्वर्ग तो गढ़ है, जिनके देव नौकर चाकर हैं, जिनके वज्र हथियार हैं और ऐरावत जैसा गजेन्द्र है ऐसे इन्द्रके भी कोई शरण नहीं है ॥ ९ ॥

अन्तिम समयमें नवनिधि, चौदह रत्न, घोड़ा, मत्त गजेन्द्र और चतुरंगिणी सेना भी चक्रवर्तीको शरणरूप नहीं है ॥ १० ॥

जन्म, जरा, मरण, रोग और भयसे आत्मा अपनी रक्षा स्वयं करता है इसलिए कर्मोंके बन्ध, उदय और सत्तासे व्यतिरिक्त आत्मा ही शरण है ॥ ११ ॥

अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु पंच परमेष्ठी भी आत्मामें ही स्थित हैं इसलिये आत्मा ही मुझे शरण है ॥ १२ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप, ये चारों ही आत्मामें ही स्थित हैं इसलिये मुझे आत्मा ही शरण है ॥ १३ ॥

३. एकत्व भावना

जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही दीर्घ संसारमें परिभ्रमण करता है, अकेला ही जन्म धारण करता है और मरता है; अकेला ही अपने कृत्योंका फल भोगता है । १४ ।

जीव अकेला ही पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंके निमित्तसे तीव्र लोभसे पाप करता है और उसका फल अकेला ही नरक तिर्यंचमें भोगता है ।१५।

जीव अकेला धर्मनिमित्तमें पात्रदान द्वारा पुण्य करता है और उसका फल वह अकेला ही मनुष्य, देव गतिमें भोगता है ।१६।

सम्यक्त्व गुण सहित मुनिको उत्तम पात्र और सम्यग्दृष्टि श्रावकको मध्यम पात्र समझना चाहिये ।१७।

जैन शास्त्रोंमें व्रतरहित सम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र और सम्यक्त्वरत्न रहित जीवको अपात्र कहा है इसलिए उनकी अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिए ।१८।

जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वह भ्रष्ट है, दर्शनभ्रष्ट जीवको मोक्षकी प्राप्ति नहीं है, जो चारित्रसे भ्रष्ट है वह कभी मुक्ति प्राप्त करता है किन्तु दर्शनभ्रष्ट जीव सिद्धि प्राप्त नहीं करता ।१९।

संयमी ऐसा चिंतवन करता है कि मैं एक निर्मम (ममत्व रहित) शुद्ध और ज्ञान-दर्शनके लक्षणवाला हूँ, शुद्ध एकत्व ही उपादेय—ग्रहण करने योग्य है ।२०।

४. अन्यत्व भावना

माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री आदि बन्धुजनोंके समूह जीवके सम्बन्धी नहीं हैं वे सब स्वार्थवश व्यवहार करते हैं ।२१।

एक जीव अन्यकी चिन्ता करता है, 'यह मेरा है और यह मेरे स्वामीका है' ऐसा माना करता है किन्तु संसाररूप महासागरमें डूबे हुए अपने आत्माकी चिन्ता नहीं करता ।२२।

ये शरीरादि भी परद्रव्य हैं, वे जीवसे भिन्न हैं, आत्मा ज्ञानदर्शन है ऐसी अन्यत्व भावनाका बार बार चिंतवन कर ।२३।

५. संसार भावना

जिनमार्गको नहीं देखते हुए जीव जन्म, जरा, मरण, रोग और भयसे भरपूर पाँच प्रकारके संसारमें चिरकाल तक परिभ्रमण करते हैं। २४।

पुद्गल-परिवर्तनरूप संसारमें जीव सभी पुद्गल वर्गणाओंको बारम्बार ही क्या अनन्त बार भोगता है और छोड़ता है। २५।*

क्षेत्र-परिवर्तनरूप संसारमें अनेक बार भ्रमण करते हुए इस जीवके लिए तीनों लोकके सर्व क्षेत्रोंमें ऐसा कोई स्थान बाकी नहीं रहा जहाँ यह क्रमशः अवगाहन द्वारा न उत्पन्न हुआ हो। २६।×

काल-परिवर्तनरूप संसारमें भ्रमण करते हुए जीव अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी कालके सब समय और अवलियोंमें अनेक बार जन्मता है और मरता है। २७।÷

---

* जब कोई जीव अनन्तानन्त पुद्गलोंको अनन्त बार ग्रहण कर छोड़ देता है तब उसके एक पुद्गलपरावर्तन होता है। ऐसे अनेक द्रव्य-परिवर्तन इस जीवने किए हैं।

× लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने सभी प्रदेशोंमें क्रमशः उत्पन्न होना और सूक्ष्मसे सूक्ष्म शरीरके प्रदेशोंसे लेकर मोटेसे मोटे शरीरके प्रदेशोंको क्रमशः पूरा करना 'क्षेत्र-परिवर्तन' कहलाता है।

÷ अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालका जितना समय हो उतने सब समयोंमें जन्म लेना और मरना 'काल-परिवर्तन' कहलाता है।

मिथ्यात्वके आश्रय द्वारा जीवने नरककी कमसे कम आयु ग्रहण कर ऊपरके ग्रैवेयक पर्यंत अधिकतम आयु प्राप्त कर परिभ्रमण किया है। २८। *

जीवने मिथ्यात्वके वश होकर सभी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंधस्थानरूप भावसंसारमें बारम्बार भ्रमण किया है। २९। ÷

जो जीव पुत्र, स्त्री आदिके निमित्तसे पापबुद्धिपूर्वक धन कमाते हैं और दया तथा दान छोड़ते हैं वे संसारमें भटकते हैं। ३०।

'यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है और ये मेरे धन-धान्य हैं' ऐसी तीव्र कांक्षासे जो जीव धर्मबुद्धिको छोड़ता है वह बादमें दीर्घ-संसारमें भ्रमण करता है। ३१।

मिथ्यात्वके उदयसे जीव जिनोक्त धर्मकी निन्दा कर कुधर्म, कुलिंग अर्थात् कुगुरु और कुतीर्थको मानकर संसारमें भटकता है। ३२।

यह जीव अन्य जीव-समूहको मारकर मधु और मांसका सेवन कर, शराब पीकर, परद्रव्य और परस्त्रीको ग्रहण कर संसारमें भटकता फिरता है। ३३।

---

* नरककी न्यूनातिन्यून आयुसे लेकर ग्रैवेयक विमानके अधिकतम आयुके जितने भेद हैं उन सबका क्रमशः भोग भव-परिवर्तन कहलाता है।

÷ कर्मबन्धके करनेवाले जितने प्रकारके भाव हैं उन सबके क्रमशः अनुभवको भाव-परिवर्तन कहते हैं।

मोहान्धकारके वशीभूत होकर जीव विषयोंके निमित्तसे रात-दिन पापकार्योंमें संलग्न रहता है और उनसे संसार-परिभ्रमण करता है। ३४।

नित्य निगोद, इतर निगोद, धातु-पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकायकी प्रत्येककी ७-७ लाख योनि, (वे सब मिलकर ४२ लाख) वनस्पतिकायकी दस लाख, विकलेन्द्रियकी अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय प्रत्येककी २-२ लाख (=छह लाख) देव, नारकी और तिर्यंचकी ४-४ लाख और पंचेन्द्रिय मनुष्यकी चौदह लाख; इसप्रकार सब मिलकर संसारी जीवकी ८४ लाख योनियाँ होती हैं। ३५।

इस संसारमें जितने भी प्राणी हैं उन सबके संयोग-वियोग, लाभ-हानि, सुख-दुःख और मान-अपमान हुआ ही करते हैं। ३६।

जीव कर्मोंके निमित्तसे संसाररूप घोर वनमें भटका करते हैं किन्तु निश्चयनयसे (यथार्थरूपसे) आत्मा कर्मसे विमुक्त है और उसके संसार भी नहीं है। ३७।

संसारसे मुक्त जीव उपादेय है—और संसारके दुःखोंसे पीड़ित जीव हेय-त्याज्य हैं ऐसा विशेषरूपसे चिंतन करना चाहिये। ३८।

६. लोक भावना

जीवादि पदार्थोंके समूहको लोक कहते हैं और वह लोक अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्व लोकके रूपमें तीन प्रकारका है। ३९।

नरक अधोलोकमें है, असंख्यात द्वीप तथा समुद्र मध्य-लोकमें हैं और स्वर्गके ६३ विमान—६३ प्रकारके स्वर्गके भेद और मोक्ष ऊर्ध्वलोकमें हैं । ४० ।

स्वर्गोंके विमानोंकी संख्या इसप्रकार है—सौधर्म-ईशान स्वर्गके ३१, सनत्कुमार-माहेन्द्रके ७, ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरके ४, लान्तव-कापिष्ठके २, शुक्र-महाशुक्रके १, शतार-सहस्रारके १, आनत, प्राणत, आरण और अच्युतके ६, अधो-मध्य-ऊर्ध्व ग्रैवेयकके ९, नव अनुदिशका १, और पाँच अनुत्तरका १ इसप्रकार सब मिलकर—६३ विमान हैं । ४१ ।

जीव अशुभभावसे नरक और तिर्यंच गति पाते हैं और शुभ उपयोगसे देव तथा मनुष्यगति प्राप्त करते हैं और शुद्ध भावसे मोक्ष प्राप्त करते हैं । इसप्रकार लोकभावनाका चिंतवन करना चाहिये । ४२ ।

७. अशुचि भावना

हड्डियोंसे जुड़ा हुआ, माँससे विलिप्त, चमड़ीसे ढँका हुआ, और कृमियोंके समूहसे भरपूर ऐसा यह शरीर सदा-काल मलिन रहता है । ४३ ।

यह शरीर दुर्गन्धमय, वीभत्स, खराब, मैलसे भरपूर, अचेतन, मूर्तिक (रूप, रस, गंध, स्पर्शवाला) और स्खलन-पतन स्वभावी है, ऐसा निरन्तर चिंतन करना चाहिये । ४४ ।

शरीर रस, रुधिर, माँस, मेद, मज्जासे व्याप्त है, उसमें

मूत्र, पीव और कृमियोंकी अधिकता है; वह दुर्गंधमय, अपवित्र, चर्मयुक्त, अनित्य, अचेतन और नाशवान है ।४५।

आत्मा देहसे भिन्न कर्म रहित, अनन्त सुखका धाम है और शुद्ध है—ऐसी भावना हमेशा करनी चाहिए ।४६।

८. आस्रव भावना

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग आस्रव हैं और जिन-शासनमें उनके क्रमशः पाँच, पाँच, चार और तीन भेद अच्छी तरह कहे गए हैं ।४७।

मिथ्यात्वके एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान ये पाँच भेद हैं और अविरति के हिंसादि ये पाँच भेद नियमसे हैं ।४८।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये भी चार कषायके भेद हैं तथा मन, वचन और काय ये तीन योगके भेद हैं ।४९।

प्रत्येक योग अशुभ और शुभ ऐसे भेद द्वारा दो-दो प्रकारके हैं, उनमें आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार प्रकारकी संज्ञा अशुभ-मन है ।५०।

कृष्ण, नील और कापोत नामक ३ लेश्यायें, इन्द्रियजन्य सुखोंमें लोलुप परिणाम, ईर्ष्या तथा विषादभाव उसे श्री जिन-भगवान अशुभ-मन कहते हैं ।५१।

राग, द्वेष, मोह और हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, नोकषायरूप स्थूल या सूक्ष्म परिणामोंको श्री जिनभगवानने अशुभ-मन कहा है ।५२।

भोजन-कथा, स्त्री-कथा, राज-कथा और चोर-कथाको अशुभ वचन समझना चाहिए; बंधन, छेदन, ताड़नकी क्रियाको अशुभ काम जानना। ५३।

पूर्वोक्त अशुभ भावों और समस्त द्रव्योंको छोड़कर जो व्रत, समिति, शील, संयमरूप परिणाम होते हैं उनको शुभ मन समझना। ५४।

संसार-नाशके कारणरूप वचनको जिनेन्द्रभगवानने शुभ वचन कहा है और जिनदेवादिकी पूजारूप चेष्टाको शुभ-काय कहा है। ५५।

बहु दोषरूप तरंगोंसे युक्त, दुःखरूप जलचरोंसे व्याप्त जन्मरूप इस संसार-समुद्रमें जीवका परिभ्रमण कर्मके आस्रवके कारण होता है। ५६।

जीव इस संसारसागरमें कर्मोंके आस्रवसे डूबता है, ज्ञानवश जो क्रिया है वह परम्परा मोक्षका कारण है। ५७।

जीव आस्रवके कारण संसारसमुद्रमें शीघ्र डूबता है इसलिए आस्रवक्रिया मोक्षका कारण नहीं है ऐसा विचारना चाहिए। ५८।

आस्रव-क्रियासे परम्परासे भी निर्वाण नहीं है इसलिये संसार-गमनके कारणरूप आस्रवको निंद्य जानो। ५९।

आस्रवके पूर्वोक्त भेद निश्चयनयसे जीवके नहीं हैं इसलिये द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकारके आस्रवसे रहित आत्माका चिंतवन हमेशा करना चाहिए। ६०।

९. संवर भावना

चल, मलिन और अगाढ़ ऐसे तीन दोषोंको छोड़कर सम्यक्त्वस्वरूप दृढ़ किवाड़ोंसे मिथ्यात्वरूप आस्रवके द्वारका निरोध होता है ऐसा श्री जिनेन्द्रभगवानने कहा है। ६१।

पाँच महाव्रतरूप परिणामोंसे अविरमणका निरोध नियमसे होता है और क्रोधादि आस्रवोंका द्वार कषाय-रहितपनेके बलसे गल जाता है। ६२।

शुभयोगकी प्रवृत्तियाँ अशुभयोगका संवर करती हैं और शुद्धोपयोगसे शुभयोगका निरोध होता है। ६३।

शुद्धोपयोगसे जीवको धर्मध्यान होता है इसलिए संवरका कारण ध्यान है ऐसा हमेशा चितवन करना चाहिए। ६४।

परमार्थनयसे (वस्तुतः) जीवमें संवर ही नहीं है इसलिए संवरके विकल्प रहित आत्माका शुद्धभावपूर्वक निरन्तर चितवन करना चाहिए। ६५।

१०. निर्जरा भावना

बंध प्रदेशोंका गलन निर्जरा है ऐसा श्री जिनेन्द्रभगवानने कहा है; जिनके द्वारा संवर होता है उन्हींके द्वारा निर्जरा भी होती है ऐसा समझना। ६६।

और यह निर्जरा दो प्रकारकी है—एक तो स्वकाल पकने पर (उसके कालकी मर्यादा पूर्ण होने पर) और दूसरी तप

द्वारा करनेसे होती है। जिनमें पहली तो चारों गतिवाले जीवोंके और दूसरी व्रतियोंके होती है।६७।

११. धर्म भावना

श्रावकका ग्यारहप्रकार प्रतिमारूप और मुनियोंका उत्तमक्षमादि दस प्रकारका धर्म सम्यक्त्वपूर्वक होता है—ऐसा उत्तम आत्मिक सुखयुक्त श्री जिनभगवानने कहा है।६८।

देशविरत श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ ये हैंः—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभोजन-त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग और उद्दिष्टत्याग।६९।

मुनिधर्मके दस भेद ये हैंः—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।७०।

क्रोध उत्पन्न होनेके साक्षात् कारण मिलते हुए भी जो ज़रा भी क्रोध नहीं करता उसे उत्तम क्षमा धर्म होता है।७१।

जो श्रमण कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र, शील, ऋद्धि संबंधी किंचित् भी अभिमान नहीं करता उसके मार्दव धर्म होता है।७२।

जो श्रमण कुटिलभाव (माया) छोड़कर निर्मल हृदयसे चारित्रका पालन करता है उसके वस्तुतः आर्जव धर्म होता है।७३।

जो भिक्षु परसन्तापकारक वचन छोड़कर स्व और परके हितकारक वचन कहता है उसके चौथा सत्यधर्म होता है।७४।

जो परम मुनि कांक्षाभाव-इच्छाकी निवृत्ति कर वैराग्य-भावनायुक्त रहते हैं उनके शौचधर्म होता है।७५।

निश्चयसम्यक्त्वके बाद सम्यक्‌प्रकारसे व्रत और समितिके पालनरूप, दंड त्यागरूप (अर्थात् मन वचन कायके योगके निरोधरूप और इन्द्रियोंको जीतनेरूप जिनके परिणाम होते हैं उनके नियमसे संयम होता है)।७६।

जो विषय-कषायका विशेष निग्रहभाव कर ध्यान और स्वाध्यायसे आत्माका चिंतवन करे उसके नियमसे तप धर्म होता है।७७।

सब द्रव्योंके प्रति मोह छोड़कर (संसार, देह, भोगके प्रति) उदासीनताको जो भाते हैं उनके त्याग धर्म होता है ऐसा जिनेन्द्रभगवानने कहा है।७८।

जो मुनि निःसंग होकर सुख-दुःखदायक अपने भावोंको रोककर निर्द्वन्द होकर रहता है उसके आकिंचन्य धर्म होता है।७९।

जो स्त्रियोंके सर्वांगोंको देखकर उस ओरके दुर्ष्परिणाम करना छोड़ देता है वह सुकृति—धर्मात्मा दुर्द्धर ब्रह्मचर्य धर्म धारण करता है।८०।

श्रावक धर्मको छोड़कर जो जीव यतिधर्मकी साधना करता है वह मोक्षको छोड़ता नहीं किन्तु मोक्षकी प्राप्ति अवश्य करता है, इस प्रकार धर्म भावनाका हमेशा चिंतवन करना चाहिये।८१।

जीवात्मा निश्चयसे श्रावकधर्म और मुनिधर्मसे भिन्न है इसलिये माध्यस्थ भावना द्वारा शुद्धात्माका नित्य चिंतवन करना चाहिए।८२।

१२. बोधिदुर्लभ भावना

जिस उपायसे सद्ज्ञान हो उस उपायका चिंतवन अत्यंत दुर्लभ बोधिभावना है ।८३।

क्षायोपशमिक ज्ञान वास्तवमें कर्मोदयजन्य पर्याय होनेसे हेय है; स्वद्रव्य उपादेय है ऐसा निश्चय सद्ज्ञान है ।८४।

कर्मकी मिथ्यात्व आदि मूल-प्रकृति व उत्तर-प्रकृति असंख्यात लोक-परिमाणरूप हैं वे सब पर द्रव्य हैं; आत्मा निश्चयनयसे निजद्रव्य है ।८५।

निश्चयनयसे कुछ हेय-उपादेय नहीं है; ऐसा ज्ञान प्रकट हो इसलिए मुनियोंको संसारसे विरक्त होनेके लिए बोधिभावनाका चिंतवन करना चाहिए ।८६।

* * *

द्वादशानुप्रेक्षा, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना समाधि-स्वरूप हैं, इसलिए अनुप्रेक्षा करनी चाहिए ।८७।

यदि अपनी शक्ति हो तो प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि सामायिक और आलोचना प्रतिदिन करनी चाहिए ।८८।

बारह अनुप्रेक्षाओंका सम्यक्प्रकार चिंतवन कर अनादि कालसे आज तक जो पुरुष मोक्ष गए हैं उनको बारम्बार प्रणाम करता हूँ ।८९।

अधिक कथनसे क्या? इतना ही कहना बहुत है कि भूतकालमें जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और भविष्यमें जो भव्य सिद्ध होंगे वह इन भावनाओंका माहात्म्य समझो ।९०।

इस प्रकार निश्चय और व्यवहार नयके अनुसार इन बारह भावनाओंका स्वरूप श्री कुन्दकुन्द मुनिनाथने कहा है। जो शुद्ध मनसे इन भावनाओंका चिंतवन करेंगे वे परम निर्वाणको प्राप्त करेंगे ।९१।

* श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत द्वादशानुप्रेक्षा समाप्त *



* श्री चिदानंदस्वरूपाय नमः *

॥ ॐ ॥

सामायिक पाठ

(भाषानुवाद सहित)

सिद्धवस्तु वचो भक्त्या, सिद्धान् प्रणमतः सदा ।
सिद्धकार्याः शिवं प्राप्ताः सिद्धिं ददतु नोऽव्ययाम् ॥१॥

अर्थः—श्री सिद्धपरमेष्ठी, जगतके सब पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप कहनेवाले जैनागाम और उस आगमके मूल प्ररूपक श्री अरहंत भगवानको भक्तिपूर्वक नमस्कार कर और उसमें प्ररूपित सत्यमार्ग पर चल कर जिन आत्माओंने संसार दुःखको नष्ट करनेरूप कार्यको सिद्ध किया है ऐसे जीवन्मुक्त अरहंत देव और मोक्ष प्राप्त सिद्ध परमेष्ठी मुझे भी अविनश्वर पद-सिद्धि प्राप्त करावें ।

भावार्थः—जिन पुरुषोंने श्री अरहंत और सिद्ध परमेष्ठीको अपना आदर्श मानकर और उनके दिखाये हुये मार्गका अवलम्बन स्वीकार कर अरहंत और सिद्धपद प्राप्त किया है वे महापुरुष मुझे भी अविनश्वर पदके मार्गपर आरूढ़ करें ।१।

नमोऽस्तु धौतपापेभ्यः सिद्धेभ्यः ऋषिसंसदि ।
सामायिकं प्रपद्येऽहं, भवभ्रमणसूदनम् ॥२॥

अर्थः—मैं समस्त कर्मकलंकको धो डालनेवाले श्री सिद्ध परमेष्ठीको अत्यन्त भक्तिपूर्वक अपने मन-मंदिरमें विराजमान कर, महर्षि पुरुषोंके रहने योग्य कोलाहलादिसे रहित, शांत स्थानमें स्थित होकर संसार-दुःखका नाश करनेवाले और परमानंद प्राप्त करानेवाले सामायिकको प्रारम्भ करता हूँ अर्थात् उसका कथन करता हूँ ।२।

* साम्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित् ।
× आशां सर्वां परित्यज्य ÷समाधिमहमाश्रये ॥ ३ ॥

अर्थः—ऐसी भावना करनी चाहिये कि सब जीव मात्रके साथ मेरा साम्यभाव है; किसीके साथ भी बैर नहीं है

---

* मोक्षप्राप्तिका एकमात्र उपाय श्री अरहंत प्ररूपित रत्नत्रयका अवलम्बन ही है ।

समता मुझे सब जीव प्रति, वैर न किसीके प्रति रहा ।
मैं छोड़ आशा सर्वतः धारण समाधि कर रहा ॥१४०॥
(नियमसार)

× क्या इच्छत खोवत सबै, है इच्छा दुख मूल;
जब इच्छाका नाश तब मिटै अनादि भूल ।
(श्रीमद् राजचन्द्र)

÷ निर्विघ्न रूपसे सम्यग्दर्शन आदिको दूसरे भवमें ले जाना समाधि है । (बृहद् द्रव्यसंग्रह)

और समस्त इच्छाओं-आशाओंको छोड़कर मैं हमेशा आत्मध्यानमें लीन होता हूं। ३।

रागद्वेषान्ममत्वाद्वा, हा मया ये विराधिता।
क्षमंतु जंतवस्ते मे, तेभ्यः क्षमाम्यहं पुनः। ४।

अर्थः—अनादि कालसे अब तक संसारमें घूमते हुए मैंने जिन जीवोंका रागद्वेष व मोह वश होकर घात किया है उन सबसे मेरी विनय पूर्वक प्रार्थना है कि वे मुझे क्षमा प्रदान करें। अनादि कालसे आज तक रही मेरी इस दुर्बुद्धिका मुझे अत्यंत खेद है। इसके अतिरिक्त जिन जीवोंने मेरा कोई अपराध किया हो उन्हें भी मैं सरल हृदयसे क्षमा करता हूँ। ४।

मनसा वपुषा वाचा, कृतकारितसम्मतैः।
रत्नत्रयभवं दोषं गर्हे निंदामि वर्जये ॥५॥

अर्थः—यह विचार करना चाहिए कि मन, वचन और कायासे कृत कारित और अनुमोदन द्वारा मेरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें जो दोष लगे हों उन सबकी मैं गर्हणा करता हूँ, निंदा करता हूँ, और उन दोषोंका त्याग करता हू। ५।

तैरश्चं मानवं दैवमुपसर्गं सहेऽधुना।
कायाहारकषायादीन् संत्यजामि विशुद्धितः ॥६॥

मैं इस समय तिर्यंच, मनुष्य और देव द्वारा किए हुए उपसर्गको शांतिपूर्वक सहन करनेको तैयार हूँ। मैं शरीर,

अन्य परिग्रह, आहार तथा क्रोधादि कषाय आदिको भी यथाशक्ति छोड़ता हूँ । ६।

रागं द्वेषं भयं शोकं, प्रहर्षोत्सुक्यदीनताः ।
व्युत्सृजामि त्रिधा सर्वमरतिं रतिमेव च ॥७॥

अर्थः—मैं राग, द्वेष, भय, शोक, हर्ष, उत्सुकता, दीनता, अरति, रति, आदि सबको मन, वचन और कायासे छोड़ता हूँ ।७।

जीवने मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये ।
बंधावरौ सुखे दुःखे, सर्वदा समता मम ॥८॥

अर्थः—जीवन-मृत्युमें, लाभ-हानिमें, संयोग-वियोगमें मित्र-शत्रुमें, सुख-दुःखमें मेरा सदा समभाव रहे-ऐसा चिंतवन करना चाहिए ।८।*

आत्मैव मे सदा ज्ञाने, दर्शने चरणे तथा ।
प्रत्याख्याने ममात्मैव, तथा संवरयोगयोः ॥ ९ ॥

अर्थः—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्रमें सदा मेरा

---

* निंदा प्रशंसा, दुःख-सुख, अरि-बंधुमां ज्यां साम्य छे ।
बली लोष्ट-कनके, जीवित-मरणे साम्य छे, ते श्रमण छे। २४१।
(श्री प्रवचनसार)

आत्मा ही है तथा मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान, संवर और योगमें है ।९।+

एको मे शाश्वतश्चात्मा, ज्ञानदर्शनलक्षणः
शेषा बहिर्भवा भावाः, सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ १० ॥

अर्थः—मेरा एक शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शन लक्षणवाला है शेष सब बाह्यभाव संयोग लक्षणवाले हैं ।१०।*

भावार्थः—ज्ञान-दर्शनस्वरूप एक नित्य आत्मा ही वास्तवमें मेरी निधि है, बाकी संयोग लक्षणवाले क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष आदि भाव तथा स्त्री, पुत्र, धन, धान्य आदि बाह्य पदार्थ मुझसे भिन्न हैं उनके साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ।१०।

संयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात्संयोगसंबंधं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम् ।११।

+ मम ज्ञानमें है आतमा, दर्शनचरितमें आतमा ।
है और प्रत्याख्यान, संवर, योगमें भी आतमा ॥१००॥
(नियमसार)

मुझ आत्मनिश्चय ज्ञान है मुझ आत्म दर्शन चरित है ।
मुझ आत्म प्रत्याख्यान अरु मुझ आत्म संवर-योग है ॥२७७॥
(समयसार)

* दृग्ज्ञान—लक्षित और शाश्वत मात्र—आत्मामय अरे ।
अरु शेष सब संयोग लक्षित भाव मुझसे हैं परे ॥१०२॥
(नियमसार)

संयोगमूला जीवेन, प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात्संयोगसंबंधं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम् ।११।

अर्थः—मेरे आत्माने अनादिकालसे अब तक कर्मरूप संयोगोंका आश्रय लेकर दुःखकी परम्परा प्राप्त की है, इसलिये मैं अब मन-वचन-कायसे सर्व संयोग-सम्बन्ध छोड़ता हूँ ।

इस प्रकार मनन-चिंतन द्वारा आत्मार्थीको हिताहितका विवेक करना चाहिए और आत्माको शुद्धोपयोगमें लीन करना चाहिये ।

एवं सामायिकात्सम्यक् सामायिकमखण्डितम् ।
वर्तते मुक्तिमानिन्या वशीभूतायते नमः ॥१२॥

अर्थः—इस प्रकार सामायिक पाठमें वर्णित विधिके अनुसार जो परम अखंडित सामायिक करते हैं और जिन्होंने मुक्तिरूप स्त्रीको वशीभूत किया है अर्थात् मुक्ति प्राप्त की है उनको मेरा नमस्कार हो ।१२।

हूँ एक शुद्ध सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे,
कंई अन्य ते माहँ अरी परमाणु मात्र नथी अरे ।३८।
(श्री समयसार)



श्री बुधजनजी कृत

समाधि-शतक

मूल-लेखक :

पं. श्री गुमानीरामजी (श्री पंडित टोडरमलजीके सुपुत्र)

(दोहा)

श्री आदीश्वर चरण युग, प्रथम नमों चित ल्याय ।
प्रगट कियो युग आदि वृष, भजत सुमंगल थाय ॥ १ ॥

सन्मति प्रभु सन्मति करण, वन्दत विघ्न विलात ।
पुनः पंच परमेष्ठीको, नमों त्रिजग विख्यात ॥ २ ॥

गौतम गुरू फिर शारदा, स्याद्वाद जिन चिन्ह ।
मंगल कारण तास को, नमो कुमति हो भिन्न ॥ ३ ॥

मंगलहित नमि देव श्री, अरिहंत गुरु निर्ग्रंथ ।
दयारूप वृष पोत भव, वारिधि शिवपुर पंथ ॥ ४ ॥

इस विधि मंगल करन से, रहत अमंगल दूर ।
विघ्न कोटि तत्क्षण टरै, तम नाशत ज्यों सूर ॥ ५ ॥

श्री सर्वज्ञ सहाय मम, सुबुद्धि प्रकाशो आनि ।
तो कवित्त दोहान में, रचों समाधि बखानि ॥ ६ ॥

मरण समाधि करे सु जो, सो नर जग गुण खान ।
इन्द्र चक्रपति हो पुनः, अनुक्रम ले निर्वाण ॥ ७ ॥

देख गुमानीरामका, वचन रूप सुप्रबन्ध ।
लघुमति ता संकोचि के, रचै सु दोहा छंद ॥ ८ ॥

पिंगल व्याकरणादि कुछ, लखो नहीं मति बाल ।
कंठ राखनेके लिए, रचो बालवत ख्याल ॥ ९ ॥

लघु धी तथा प्रमाद से, शब्द अर्थ लख हीन ।
बुध तन सोधि उचारियो, हंसो न लख मति क्षीण ॥ १० ॥

आतम अनुभवसे जु हों, शांति रूप परिणाम ।
तब समाधि विधि आदरे, मरणसमाधि सु नाम ॥ ११ ॥

सो मैं अब दृष्टान्तयुत, कहों त्रियोग सम्हार ।
भवि अहनिशि पढ़ियो सु यह, कर परिणाम उदार ॥ १२ ॥

(छप्पय छन्द)

सूता ज्यों गृह सिंह ताहि इक पुरुष विचक्षण ।
जाग्रत किय ललकार सिंह उठ देख ततक्षण ॥
हनन वृन्द रिपु ताहि निकट आयो यह तेरे ।
सावधान हो चेत करो पुरुषारथ नेरे ॥
जबलों रिपु कुछ दूर हैं कर सम्हाल जीतो तिन्हें ।
यह महत्पुरुषकी रीति है, ढील किये आवत कनें ॥ १३ ॥

वचन सुनत यों सिंह गुफासे बाहर आयो ।
गर्जो घन जिमि सुनो शत्रु हिय थिर न रहायो ॥
जीतनको असमर्थ बाज हस्ती सब कांपे ।
निर्भय हरि पौरुष सम्हाल नहीं सके जो जांपे ॥
त्यों सम्यग्ज्ञानी नर सुधी मरणसमय विधि सेन लख ।
तिहि जीतन निज पौरुष सजे अकच उपाधिक भावमख ॥ १४ ॥

आवत काल तटस्थ देख तब साहस ठाने ।
कर्म संयोग सुदेह इती थिति पूरण जाने ॥
ताही से मम योग्य कार्य अब ढील न कीजे ।
जो चूको यह दाव और संसार पड़ीजे ॥
अति कठिन काकतालीय ज्यों मनुज जन्म शुभ वश लहा ।
सो वृथा गमाया धर्मविन दौड़-दौड़ चहुंगति बहा ॥ १५ ॥

कर कषाय अति मन्द क्षमादिक दशव्रत ध्यावे ।
अन्तर आतम मांहि शुद्ध उपयोग रमावे ॥
करे राग रुष मोह शिथिल अति ही सो ज्ञानी ।
निरालम्ब चिद्रूप ध्यान धर बहु गुण खानी ॥
तब स्वरस स्वाद आवे घनो अतुल भिन्न पाँचों दरब ।
इमि निश्चयदृष्टि विलोकता लहै सुक्य जो अकथ अब ॥ १६ ॥

आनंद रस नित रहै ज्ञानमय ज्योति उजारी ।
पुरुषाकार अमूर्ति चेतना बहु गुण धारी ॥
ऐसा आतम देव आप जानन बुधि पागी ।
पर द्रव्यों से किसी भांति ना होवे रागी ॥
निज वीतराग ज्ञाता सुथिर अविनाशी पर जड़ लखा ।
वपु पूरन गलन असास्वता इम लख तिन निजरस चखा ॥ १७ ॥

समदृष्टी नर सदा मरण का भय ना माने ।
आयु अंत जब लखे स्वहित तब या विधि ठाने ॥
आयु अल्प इस देह तनी जब रही दिखावे ।
अब करना मम चेत सावधानी यह दावे ॥
जिम रणभेरी के सुनत ही सुभट जाय रिपु पर झुके ।
त्यों कालबलीके जीतने साहस ठाने भय चुके ॥ १८ ॥

सब जिय सोच विचार लखो पुद्गल परजायी ।
देखत उत्पति भई देखते अब खिर जायी ॥
मैं सरूप इस लखो विनाशिय पहिले याको ।
सो अब अवसर पाय खिले जासी यह ताको ॥
मम ज्ञायक दृष्टारूप निज ताहि सबै विधि आवरौं ।
अब किस विधि देह नशे जु यह मैं तमाशगीरी करौं ॥ १९ ॥

मम स्वरूप द्रग ज्ञान सुक्ख वीरज अनन्त मय ।
नर नारक पर्याय भेद बहु भये मृषानय ॥
जो पदार्थ त्रैलोक मैं सु ते तिन ही के कर्त्ता ।
मैं चित अमल अडोल नहीं तिन कर्त्ता हर्त्ता ॥
वे आपहि बिछुड़ें मिलें पूरें गलें अचित सदा ।
तो देह रखाया क्यों रहे भूल भर्म न पड़ौं कदा ॥ २० ॥

(सवैया)

काल अनादि भरो दुःखमें पर द्रव्योंसे एकहि जानो ।
कालबली दढ़ डाढ़ ग्रसो लहि जन्म जरा मरण फिर ठानो ॥
खेद लहो वश मोहतनें सु विचार सजें अब भूल दिखानो ।
मैं निज ज्ञायक भावनको कर्त्ता अरु भुक्त सदा थिर जानो ॥ २१ ॥

मो सत्संगसे देह पुजे जग मो निकसे तनको सब जारें ।
मानत देह रु जीव एकत्र नशे यह तो शठ रोय पुकारें ॥
हाय पिता तिय पुत्र कलत्र सुमात हितू कहां जाय पधारें ।
और अनेक विलाप करें अति खेद कलेश वियोग पसारें ॥ २२ ॥

ए न बिचार करें सु विचक्षण अज्ञन देख चलो जग जाई ।
कौन पिता तिय पुत्र हितू सो कलत्र यहां किन कौन की माई ॥

को गृह माल कहाँ धन भूषण जात चली किनकी ठकुराई ।
ये सब वस्तु विनश्वर ज्यों स्वप्नेमें राज्य करे नर भाई ॥२३॥

देखत इष्ट लगे यह वस्तु विचारत ही कुछ नांहि दिखावे ।
सो इम जान ममत्व सुभान त्रिलोकमें पुद्गल जो दृढ़ आवे ॥
देह सनेह तजों तिस ही विधि रञ्चक खेद न मो चित पावे ।
जाय रहो यह देह प्रतक्ष विगार सुधार न मोहि लखावे ॥२४॥

देखहु मोहतनी महिमा पर द्रव्य प्रत्यक्ष विनाशिक हेरी ।
है दुखमूल उभय भवमें जगजीव सबै इसमांहि फंसेरी ॥
मूरख प्रीति करे अति ही अपना तन जान रखावन हेरी ।
मैं इक ज्ञायक भाव धरें सो लखों इस काल शरीरको वेरी ॥२५॥

(दोहा)

माखी बैठे खांड पर, अग्नि देख भग जाय ।
काल देहको त्यों भखे, मो लख थिर न रहाय ॥२६॥

मरण योग्य पहिले मुआ, जीया मृतक न होय ।
मरण दिखावत नांहि मम, मर्म गया सब खोय ॥२७॥

(सवैया)

चेतनके मरणादिक व्याधि लखी न त्रिलोक त्रिकाल मंझारे ।
तो अब सोच करो किस काज अनंत दृगादिक भावको धारे ॥
ता अवलोकत दुःख नशे, मम ज्ञान पियूष सु पूरित सारे ।
ज्ञायक ज्ञेयनको यह जीव पै ज्ञेयसे भिन्न अनाकुल न्यारे ॥२८॥

व्यापक चेतन ठौरहि ठौर यथा इक लौन डली रस पागी ।
त्यों मैं ज्ञानका पिंड हूँ पै व्यवहारसे देह प्रमाणसो लागी ॥
निश्चय लोकप्रमाणाकार अनंत सुखामृतसे अनुरागी ।
मूसमही गल मोम गयो नभयुक्त तदाकृति देखहु सागी ॥२९॥

(दोहा)

मैं अकलंक अबंक थिर, मिलत न काहू मांहि ।
नशो देह भावे रहो, हमें न किहि विधि चाहि ॥३०॥

(छप्पय छन्द)

कहै एक नर सोच देह तुम्हारी तो नाहीं ।
पर याके संग ध्यान शुद्ध उपयोग लहाहीं ॥
एता वपु उपकार कहो सुन थिर चित भाई ।
रत्न द्वीप नर आय एक झोंपड़ी बनाई ॥
बहुरत्न एकठा करै अग्नि लगी बुझावे तब सुवर ।
अब बुझत न जाने झोंपड़ी रत्न लेय भागे सुनर ॥३१॥

(दोहा)

त्यों मम संयम गुण सहित, रहो देह ना वैर ।
नशत उभय तो जानिये, संयम राखो घेर ॥३२॥

संयम रहता देह बहु, क्षेत्र विदेहा जाय ।
तप कर चक्री इन्द्र हो, अनुक्रम शिवथल पाय ॥३३॥

मोह गयो आकुल गई, ध्यान चिगावे कौन ।
इन्द्र चक्र धर्नेन्द्र सुर, विष्णु महेश्वर जौन ॥३४॥

(सवैया)

देह सनेह करी किस कारण यह वपु ज्यों चपला चमकाई ।
मांहि उपाय रखावनको कछु औषधि मंत्र रु तंत्र बनाई ॥
जो थित पूरण होई तबै सुर इन्द्र नरेन्द्र हरी मृत्यु थाई ।
दाव बनो हित साधनको बहु लोग चिगावहि मैं न चिगाई ॥३५॥

कुटुम्बादि ममत्व त्याग

(छप्पय छन्द)

अब कुटुम्बके लोग सुनो हित सीख हमारी ।
पता ही सम्बन्ध देह तुम्हरो अवधारी ॥
तुम राखत ना रहे सोच अपना कर भाई ।
यह गति सबकी होई चेत देखो पितु भाई ॥
मो करुणा आवत तुम तनी खेद धार क्यों दुःख भजो ।
वृष धार योग नित सुथिर हो ममत्व देहसे अब तजो ॥३६॥

(सवैया)

जो दृढ़ व्याधि ग्रसे तन अन्त सु वेदना दुर्जय आवत तेरी ।
कारण तास तने परिणाम चिगे लख साहससे बुद्धि फेरी ॥
पूरव संचित कर्म उदय फल आय लगो गहने वपु घेरी ।
भिन्न सदा मम रूप निराकुल है शरणा निज आतम केरी ॥३७॥

(छप्पय छन्द)

शरण पंच परमेष्ठि बाह्य जिन वृष जिनवाणी
रत्नत्रय दशधर्म शरण सुन हो चिद ज्ञानी ॥
और शरण कोई नाहिं नेम हमने यह धारो ।
इस विधिसे उपयोग थाम कर पम विचारो ॥
अरिहन्त देव गुरु द्रव्य गुण पर्यायन निर्णय करै ।
तब निज सुरूपमें आयकर साहससे दृढ़थिति धरै ॥३८॥

(सवैया)

वपु मात पिता तुम पम सुनो मम देह सनेह वृथा तुम धारो ।
को तुम को मैं हाट तनी गति प्राप्त पयान करें जन सारो ॥
रीति भरें घटरहँट तनी तुम अन्तरके दृग खोल विचारो ।
आपतनो दृढ़ सोच करो तुम आतम द्रव्य अनाकुल न्यारो ॥३९॥

(छप्पय छन्द)

यह सब भक्षी काल कालसे बचे न कोई।
देव इन्द्र थिति पूर्ण देख मुख रहे जु सोई ॥
यम किंकर ले जाय आपनी कथा कौन है।
तन धारे सो मरै वृथा कर खेद कौन है।
यह आजकाल मूवा मनुज सुन प्रतीन वृष आदरो।
यह निरोपाय जग रीति है जिन वृष भज साहस धरो ॥४०॥

स्त्री ममत्व त्याग

(सवैया)

हे त्रिय देहतनी सुन सीख सनेह तजो वपुसे अब प्यारी।
देहरुतो सम्बन्ध इतो अब पूर्ण हुओ नहि खेद पसारी ॥
कार्य सरे नहीं या तनसे तुम राखहु नाहि रहै तन नारी।
पुद्गलकी पर्याय त्रिया नर सोच लखो दृग खोल निहारी ॥४१॥

(छप्पय छन्द)

भोग बुरे भव रोग बढ़ावन वैरी जीके।
होवे विरस विपाक समय लगें सेवत नीके ॥
एकेन्द्री वश होई विपति अतिसै दुख पायो।
कुंजर झष अलि शलभ हिरण इन प्राण गमायो ॥
पंच करन वश होई जिय कुगति धार दुख पावहीं।
इन त्याग त्रिया संतोष भज जो मम नार कहावहीं ॥४२॥

भोग किये चिरकाल बने त्रिय कार्य सरो न कछु सुख पायो।
इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग निरन्तर आकुलताप तपायो ॥
दुर्लभ जन्म सु बीत गयो अब कालके गालहिमें वपु आयो।
सो त्रिय राखन कौन समर्थ वृथा कर खेद सो जन्म नशायो ॥४३॥

(छप्पय छन्द)

ओ प्यारी मम नारी सीख हित चित्त धरीजो।
शीलरत्न दृढ़ राख तत्त्व श्रद्धान सु कीजो॥
धर्म बिना भव भ्रमे काल बहु हम तुम सबही।
गति चारों दुःखरूप धरीं वृष गहो न कबही॥
अब मम सुख वांछे नार तू वृष दृढ़ाय तज आसतें।
तुम भावन को फलभोग ही शीघ्र जाहु मो पासतें॥४४॥

(दोहा)

नारी बुलाय सम्बोधि इम, सीख दई हित साज।
अब निज पुत्र बुलाइयो, ममत निवारण काज॥४५॥

पुत्रादि ममत्व त्याग

(छप्पय छन्द)

पुत्र विचक्षण सुनो आयु पूरण अब म्हारी।
तुम ममत्व बुद्धि तजो खेद दुःखको करतारी॥
श्री जिनवर का धर्म भली विधि पालन कीजो।
पूजा जप तप दान शील सम्यक्त्व गहीजो॥
फिर लोकनिंद्य कारज तजो, साधर्मिनसे हित करो।
तुम युग भव सुख हो है सुन, सीख हमारी उर धरो॥४६॥

(सवैया)

देह अपावन वस्तु जग त्रय की या संगसे मैली।
कर्म गढ़ी नस अस्थि जड़ी पुनि चर्म मढ़ी मल मूत्र की थैली॥
नव मल द्वार स्रवें वसु जास कुवास घिनावन की वपु गैली।
पोषत हो दुखदोष करे सुत सोखत याहि मिले शिव सैली।४७।

(दोहा)

जो तुम राखें देह यह, रहै तो राखे धीर ।
मैं बरजो ना तोहि सुत, करो सोच निज वीर ॥४८॥

सुन अनुक्रम से गति सबनि, यही होयगो मीत ।
जिन वृष नौका बैठके, भव जल तर तज भीति ॥४९॥

दया बुद्धि से सीख मैं, देई तोहि लख पीर ।
होनहार तुम होइनों, रुचे सो कीजो धीर ॥५०॥

यों कह सब परिवार त्रिय, सुत मित्रादिक भूर ।
मरण बिगाड़न लख तिन्हें, किये पास से दूर ॥५१॥

जो भ्राता सुत आदि गृह-भार चलावन योग ।
सोंप ताहि हित सीख दे, तजै जगत का रोग ॥५२॥

और मनुष्यों से कछू, बतलाने को होइ ।
ते बुलाय बतलाय कुछ, शल्य न राखे कोई ॥५३॥

दया दान अरु पुण्य को, जो कुछ मनमें होइ ।
सो अपने कर से करे करे विलंब न कोइ ॥५४॥

साधर्मी पंडित निकट, राखे इम बतलाय ।
मो परणाम लखो चिगे, तुम दृढ़ कीजो भाय ॥५५॥

(छप्पय छन्द)

अब समदृष्टी पुरुष काल निज निकट सुजाने ।
तब सम्हाल पुरुषार्थ शल्य तज साहस ठाने ॥
शक्ति सार धर नेम यम मर्यादा लीजे ।
कर परिग्रह परिमाण रूप निज अनुभव कीजे ॥
यह संशय मन होई जो, पूरण आयु न हो कदा ।
तो निज शक्ति प्रमाण समय की कर मर्यादा ॥५६॥

(सवैया)

शक्तिप्रमाण कह्यो गुरु त्याग पैं, शक्ति छिपाय नहीं कुछ त्यागे ।
शक्ति छिपाय के त्याग करे परमाद का दोष समाधिको लागे ॥
और अभक्ष्य अजानित औषधि, धातु रसादिक से नहीं पागे ।
छोड़े जगत्रयकी आशा तब, अन्तर आतम-ज्योति सुजागे ॥५७॥

(छप्पय छन्द)

उतर खाटसे भूमि माहि दृढ़ आसन मांड़े ।
साधर्मिन को निकट सु इक छुक नाहीं छांड़े ॥
शिथिल होई जो भाव कदा अनुभव से कोई ।
कर विचार पुन तत्व देव गुरु निर्णय जोई ॥
इम खेंच थाप उपयोग शुचि आतमरूप रमावहीं ।
इम काल व्यतीत करे सु तब निपट निकट तिथि आवहीं ॥५८॥

(दोहा)

तब द्वादश भावन भजे, तोक्षण दुःख हो हान ।
सो वरनों संक्षेप से, भवि नित करो बखान ॥५९॥

(सवैया)

यौवनरूप त्रियातन गोधन योग विनश्वर हैं जग भाई ।
ज्यों चपला चमके नभमें जिमि मंदिर देखत जात विलाई ॥
देव खगादि नरेन्द्र हरी मरते न बचावत कोई सहाई ।
ज्यों मृग को हरि दौड़ दले बन रक्षक ताहि न कोई लखाई ॥६०॥

जीव भ्रमे गति चार सहे दुःख लाख चौरासी करे नित फेरी ।
पै न लह्यो सुख रंच कदा संसार को पार लह्यो न कदेरी ॥
पूरब जो विधि बन्ध किये फल भोगत जीव अकेलेहि तेरी ।
पुत्र त्रिया नहि सीर करें सब स्वारथ भीर करें वपु केरी ॥६१॥

ज्यों जल दूधको मेल जिया तन भिन्न सदा नहीं मेलको धारे ।
तो प्रत्यक्ष जुदे धनधाम मिलें न कभी निज भाव मंझारे ॥
देह अपावन अस्थि पलादि की रोग अनेक सो पूरित सारे ।
मूत्र मली-घर है सुगली नवद्वार स्रवें किमि कीजिये प्यारे ॥६२॥

आस्रवसे यह जीव भ्रमें भवयोग चलाचलसे उपजेंगे ।
दुःख लहो चिरकाल घनो रचि जो बुधिवन्त तिन्हें सु तजेंगे ॥
पुण्य रु पाप दुहू तनके निज आतमकी अनुभूति सजेंगे ।
आवत कर्मनको बरजें तब संवर भाव सुधा सु भजेंगे ॥६३॥

कर्म झड़े निजकालहि पाय न कार्य सरे तिनसे जिय केरो ।
जो तपसे विधि हानि करें कर निर्जरासे शिवमांहि बसेरो ॥
जो षटद्रव्य मई यह लोक अनादिको है न करो किहि केरो ।
एक जिया भ्रमतो चिरको दुःख भोगत नांहि तजे भव फेरो ॥६४॥

अंतिम ग्रीवक हद लहों पद सम्यकज्ञान नहीं कछु पायो ।
आतमबोध लहो न कभी अति दुर्लभ जो जगमें मुनि गायो ॥
मोह से भाव जुदे लखके दृग ज्ञान व्रतादिक भाव बनायो ।
धर्म वही कहिए परमारथ या विधि द्वादश भावना भायो ॥६५॥

दारुण वेदना आयुके अन्तमें देह सरूप अनित्य विचारो ।
दु.ख रु सुक्ख तो कर्मनकी गति देह बंधो विधिके संग सारो ॥
निश्चय से मम रूप दृगादिक देह रु कर्मन से नित न्यारो ।
तो मुझे दुःख कहा वपुके संग पूरव कर्म विपाक चितारो ॥६६॥

देह नशी बहुवार जो अब्र इसी विधि अन्त सुकष्ट लहायो ।
पैं न लखो निज आतमरूप नहीं बहु जन्म समाधिहि पायो ॥
या भवमें सब योग बनो निज कार्य सुधारन को मुनि गायो ।
कर्म अरी हरि मोक्षत्रिया वर पूरणसुक्ख लहो सु सवायो ॥६७॥

काल अनादि भ्रमें जिय एकहि पंच परावर्तन कर फेरी ।
द्रव्य रु क्षेत्र सुकाल तथा भव भाव कथा तिनकी बहुतेरी ॥
बार अनंत किये तहाँ पूरण अन्त लह्यो भवका न कदेरी ।
को वरने दुःखकी जु कथा गुणराज थके बुधि अल्प जु मेरी ॥६८॥

नित्य निगोद सुभौन जिया तज जो कहुँ राशि व्यवहारमें आयो ।
भाग्य उदय त्रसकाय धरी विकलत्रय में रुल खेद लहायो ॥
धा पंचेन्द्रिय होई पशु सबलीन हतो निबला हत खायो ।
भूख तृषा हिमताप तपो अतिभार बहो दृढ बन्धन पायो ॥६९॥

देह तजी अति संकट भावन से तब शुभ्र तनी गति धायो ।
भूमि तहां दु खरूप इसी मनु कोटिन विच्छुनने डस खायो ॥
देह तहां कृमिरोगन पूरित कंटक सेजन से सु घिसायो ।
घात करे दल सेमर के निज वैर भजो असुरान भिड़ायो ॥७०॥

मेरु प्रमाण गले तहाँ लोह हिमातप याविधि को मुनि गायो ।
नाज भखें सब लोक तनो न मिटे गद एक कणा न लहायो ॥
सागर नीर पिये न बुझे तृषा जल बूँद न दृष्टि लखायो ।
वरणे थिति सागर की कहुँ भाग्य उदय नर की गति आयो ॥७१॥

वास कियो नव मास अधोमुख मात जने दुःख से जु घनेरो ।
बालपने गद दन्त पलादिक ज्ञान बिना न मने बचनेरो ॥
यौवन भामिन संग रचे जु कषाय जली गृह भार बड़ेरो ।
पुत्र उछाह सु हर्ष बढ़ो सु वियोगसे आकुल ताप तपेरो ॥७२॥

द्रव्य उपार्जन कष्ट सहे अब यो करनो यह तो हम कीनो ।
संतत जोग न तो दुःख भोग कुपुत्र कुनार तने दुःख भीनो ॥
पीड़ित रोग दरिद्र फंसे अति आकुलसे कर बंध नवीनो ।
आरति ठान भली सिख भान सो मूढ़ कभी सत्संग न कीनो ॥७३॥

वृद्ध भयो तृष्णा जु दहो मुख लार बहै तन हालत सारो ।
वस्त्र सम्हाल नहीं तनकी वृषकी जु कथा तहाँ कौन उचारो ॥
काल अचानक कंठ दबे तब खोय बिना वृष यों तन प्यारो ।
चेतन कूच कियो तनसे सुकुटुम्ब के इन्धन से वपु जारो ॥७४॥

निर्जरा कीन अकाम कभी लहि स्वर्ग तनी गति सुख सुमानो ।
हो विषया रस मत्त तहां अति आतुर भोग न चाह दहानो ॥
देख विभव पर झूर डसो जम माल लखी चयते विललानो ।
आरतिसे मर कर्म ठगो जिय फेर भवार्णव में भरमानो ॥७५॥

यों जु भ्रमो चिरकाल जिया विन सम्यक सुक्ख समाज न पायो ।
जन्म जरा मरणादिक रोग कलेश तनो कहुँ अन्त न आयो ॥
आप स्वरूप विसार रचे पर दुःख चितारत फाटत कायो ।
तो अब यो दुख नाहीं कछू लख सम्यककी दृढ चेतनरायो ॥७६॥

(दोहा)

इम चितन कर वेदना, सर्व निवारे सूर ।
फिर निर्भय नरसिंहवत, कहा करै हितपूर ॥७७॥

(छप्पय छन्द)

शक्ति वचन की रहै जैन श्रुत मुख से गावे ।
या बिन वचन न कहै नेम धर ममत नशावे ॥
निकट आयु लख पहर चार है इक दिनकेरी ।
चउविधि तज आहार परिग्रह है विधि टेरी ॥
पुन शक्ति देख तज जीव बहु जुदी जुदी शक्ति धरैं ।
यम नियम जाव जिय त्यागहि न साधनमें अंतर परे ॥७८॥

अन्त सल्लेखना मांड आराधन चउ विधि ध्यावे ।
क्षण क्षण करे सम्हाल भाव कहुँ डिगन न पावे ॥

कर दृढ़ तत्व प्रतीति धार सम्यक निरखेदे ।
वेदन तीक्षण निपट ताहि अन्तर नहिं वेदे ॥
जब वचन बंद होता लखे, तब सुवचन से यों कहब ।
तुम जिनवानी पढ़ियो जु बहु, प्रसत काल यह देह अब ॥७९॥

(दोहा)

परमेष्ठी पांचोन को, रूप सु उर में धार ।
नमस्कार हित युत करे, फिर फिर कर शिरधार ॥८०॥
जैन धर्म निज बिंब अरु, जिनवाणी जिनधाम ।
शुद्ध भाव से देव नव, तिनको करे प्रणाम ॥८१॥
कृत्याकृत्यम जिन भवन, सिद्धक्षेत्र भवतार ।
तिनको बंदो भाव से, युगल पान शिरधार ॥८२॥
उत्तम क्षमा समस्त से, कर हित मित बतलाय ।
आप क्षमा करवायके, बैर न राखे भाय ॥८३॥
मौन लहै तब धीर सो, अन्तर के दृग खोल ।
तजे राग रुष मोह सब, कर परणाम अडोल ॥८४॥
जबलौं शिथिल न होई तन, इन्द्रिय बल मन दौर ।
तबलौं अनुभव कीजिये, प्रभु आतम गुण और ॥८५॥
शिथिल पड़ी जब जानिये, इन्द्रिय तन मन द्वार ।
तब नवकार उचारिये, महामंत्र जग सार ॥८६॥

(सवैया)

ज्ञान बिना नर नारि पशु है योग मिले बड़ भाग सम्हारे ।
प्राण तजे नवकार उचारत तो गति नीच तनी नहिं धारे ॥
अंजन चोर करी मृगराज अजासुत आदि जपे नवकारे ।
स्वर्ग तनो सुख वेग लयो शुभ बीज से वृक्ष यथा शुभसारे ॥८७॥

(दोहा)

मरण समय औषधि निपुण, दुखनाशक सुखमूल ।
बार बार मंत्रहि जपे, तजे जगति दुःख शूल ॥८८॥
मेटै वांछा सकल पुन, करे न बन्ध निदान ।
रत्न छोड़ कांचन ग्रहै, त्यों समाधि फल जान ॥८९॥

(सवैया)

जीव प्रदेश खिचे तन से दुःख से नहीं आकुल ताप तपेंगे ।
शीति परीषह हो सुखरूप निरंतर सो नवकार जपेंगे ॥
अंश न जो सुधि होई जिया शुभ ध्यान धरें वसु कर्म छिपेंगे ।
कंठ लगे कफ आन जबै सुधि भूलत हों दश प्राण चयेंगे ॥९०॥

(दोहा)

या विधि अधिक सम्हाल से, तजे देह सुख भौन ।
शुभ गति सन्मुख होइ कर, जीव करे गति गौन ॥९१॥

(छप्पय छन्द)

जो समाधि आदरे तासु वांछा मन चावे ।
कर उद्धार परणाम ताहि निशिदिन ही ध्यावे ॥
कब आवे वह घड़ी समाधि सु मरण करोंगो ।
अन्त सल्लेखन मांड़ कर्म रिपु से जु लड़ोंगो ॥
यह चाह रहै निशिदिन जबै, कुगति बन्ध नाहीं करे ।
सम्यक्त्ववान जग पूज्य हो, निश्चय से शिवतिय वरे ॥९२॥

पंचम काल कराल में न संयम जो गाई ।
पर समाधि आदरे तास महिमा अधिकाई ॥
ता फल सुर गति लहै इन्द्र चक्री नर राई ।
होय सर्व जग भोग विदेहां जन्म लहाई ॥

सुख भोग धार तप कर्म हर, शिव सुन्दरि परणे सुजन ।
मुख एक थकी वरणों सु किम, धन्य समाधि महिमा सुमन ॥९३॥

(दोहा)

देह अशुचि शुचि को यहां, कुछ न विचार करेह ।
पढ़े पाठ मंत्रहि जपे, अशुचि सदा यह देह ॥ ९४ ॥
श्री कास्यप क्रमयमल को, नम विक्रम आन ।
द्वादायग दोषा सुधर, मूर्द्धन क्षनद विहान ॥ ९५ ॥
नरक कलाभूत तास रुच, रस्मिन उदय रहंत ।
शतक समाधि सु विस्तरों, तब लग जय जयवंत ॥ ९६ ॥

(सवैया)

मंगल से बहु विघ्न नशें यह पाठ सुपूरण मंगल कीने ।
है निमित्त बड़ वीर दई सिख श्रावक प्रेर उदासिय भीने ॥
राखन कंठ सुहेत रचे सब जीव पढ़े सु समाधिहि चीन्हे ।
तास प्रमाण श्लोकनका युग से जु पचास कहे जु नवीने ॥९७॥
नाम समाधि शतक्क यथा इक से इक छन्द कवित्त सु कीने ।
कर्त्ता मूल जिनेश गणी क्रमसे सो राम गुमानी कीने ॥
ता अनुसार सो प्राण पुरामह छन्द रचे लघु धी बदलीने ।
लक्ष्मणदास सो भ्रात बड़े तिनने यह सोधि समापति कीने ॥९८॥

(दोहा)

इक नव युग पर युग धरें, शुभ संवत्सर जान ।
भाद्रव धवल सु तीज गुरु, पूरण किया विधान ॥ ९९ ॥
या में छन्द रचे इते, दोहा पैंतालीस ।
पुन छप्पय इकवीस हैं, कवित रचे पैंतीस ॥१००॥
संख्या सब श्लोक मिल, युग शत और पचास ।
अल्प बुद्धि वरणो सु यह, बुधजन सोधो जासु ॥१०१॥

॥ इति समाधि शतक ॥

अध्यात्म बारह भावना

(पं० जयचंद्रजी कृत)

—दोहा—

द्रव्यरूपकरि सर्व थिर पर्जय थिर है कौन ।
द्रव्य-दृष्टि आपा लखो, पर्जय नयकरि गौन ॥१॥

शुद्धातम अरु पंचगुरु, जग में शरणा दोय ।
मोह उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय ॥२॥

पर द्रव्यनतैं प्रीति जो, है संसार अबोध ।
ताको फल गति चार में भ्रमण कह्यो श्रुत शोध ॥३॥

परमारथतैं आतमा, एक रूप ही जोय ।
कर्म निमित विकलप घने, तिन नाशे शिव होय ॥४॥

अपने-अपने सत्वकूं, सर्व वस्तु विलसाय ।
ऐसैं चितवै जीव तब, परतैं ममत न थाय ॥५॥

निर्मल अपनी आतमा, देह अपावन गेह ।
जानि भव्य निज भाव को, यासौं तजो सनेह ॥६॥

आतम केवल ज्ञानमय, निश्चय-दृष्टि निहार ।
सब विभाव परिणाममय, आस्रव भाव विडार ॥७॥

निज स्वरूप में लीनता, निश्चय संवर जानि ।
समिति गुप्ति संजम धरम, धरैं पापकी हानि ॥८॥

संवरमय है आतमा, पूर्व कर्म झड़ जाय ।
निजस्वरूप को पायकर, लोक शिखर जब थाय ॥९॥

लोक स्वरूप विचारि कैं, आतमरूप निहारि ।
परमारथ व्यवहार मुणि, मिथ्याभाव निवारि ॥१०॥

बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं ।
भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं ॥११॥

दर्शज्ञानमय चेतना, आतम धर्म बखानि ।
दया क्षमादिक रतनत्रय, यामें गर्भित जानि ॥१२॥

